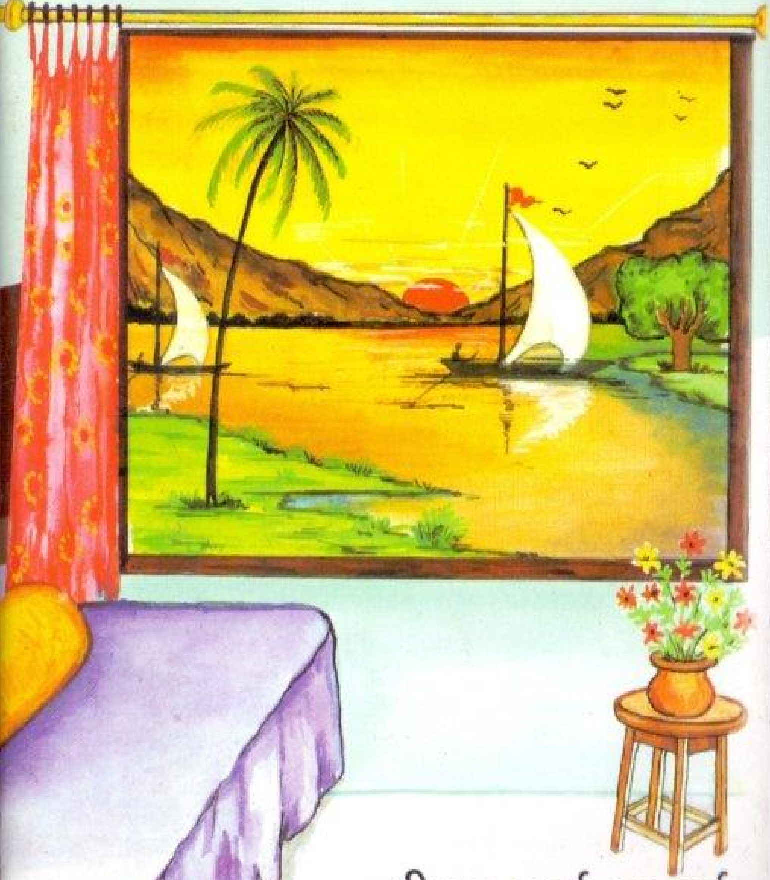
घर के वातावरण में स्वर्ग का अवतरण



—श्रीराम शर्मा आचार्य

घर के वातावरण में स्वर्ग का अवतरण

लेखक :
पं०श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं० २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१४ मूल्य : ९.०० रुपये

प्रकाशक:
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

लेखक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

मूल्य ९.०० रुपये

मुद्रक
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३
फोन : (0565) 2530128, 2530399

घर-गृहस्थी मायाजाल या साधना भूमि

भारतीय संस्कृति में पारिवारिक जीवन को एक उच्चस्तरीय योगाभ्यास कहा है। योग साधना का अर्थ है—अपने सीमित और संकुचित अहं को असीम और विराट चेतना से एकाकार कर देना। गृहस्थाश्रम सीमित से असीम की ओर अग्रसर होने के लिए, क्रमशः आगे बढ़ने का अभ्यास करने के लिए ऋषि प्रणीत एक प्रयोगशाला है। प्राचीनकाल में अधिकांश ऋषि विवाहित ही होते थे। आश्रमों में ऋषि-मुनि ऋषिकुमारों को पढ़ाते थे, तो उनकी पत्नियाँ ऋषि कन्याओं को शिक्षा देती थीं। हमारी संस्कृति के अनुसार विवाह एक पवित्र बंधन और प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक धर्मकृत्य है।

इस धर्मकृत्य को संपन्न करते हुए ही कोई व्यक्ति अपने 'अहं' का विस्तार आरंभ करता था और परिवार के अन्य सदस्यों तक अपनी आत्मभावना की परिधि को व्यापक बनाता था। स्वाभाविक ही है कि विवाह के उपरांत पुरुष या स्त्री की आत्मीयता का क्षेत्र और व्यापक बन जाता है तथा उसमें स्त्री, पति, संतान, स्वजन, सगे-संबंधी, पड़ोसी और घर के पशु-पक्षी तक सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार विवाहित स्त्री या पुरुष यदि विवाह-बंधन के मर्म को समझें तो क्रमशः अपनी उन्नति की ओर बढ़ते चलते हैं। दूसरों के लिए अपने को भूल जाने की, अपने स्वार्थ को कम करने तथा परिवारीजनों की हित चिंता को महत्त्व देने की अभ्यास साधना से ही गृहस्थ साधक आगे बढ़ सकते हैं और शनैःशनैः तुच्छता को महानता में, संकीर्णता को उदारता में परिणत करते चल सकते हैं।

भारतीय मनीषियों ने विवाह जैसे पवित्र धर्मकृत्य से और भी कई महान उद्देश्यों की पूर्ति की कल्पना की थी। मानव प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्तियों को संयमित करने, प्रकृति द्वारा आयोजित सृष्टि क्रम के विस्तार को सुव्यवस्थित रूप देने, समाज में स्वस्थ वातावरण बनाने तथा सुयोग्य नागरिकों का निर्माण करने जैसे प्रयोजन भी इस धर्मकृत्य के साथ जोड़ रखे थे। एक कुरूप और बेडौल आकार के पत्थर को मूर्तिकार जिस प्रकार छैनी और हथौड़ी लेकर सुंदर मूर्ति बनाने में संलग्न होता है और अपने अंतस की मूर्ति को पाषाण शिला में साकार कर देता है, उसी स्तर की साधना गृहस्थ धर्म की कल्पना करते समय आवश्यक समझी गई होगी और उस माध्यम से उस साधना को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया होगा। प्रकृति के उद्दाम आवेगों को संयत करने का उपाय भी इसी प्रकार किया गया। जिनका निर्बाध प्रकटीकरण मनुष्य को पशु और असभ्य जंगली बना सकता है। उन आवेगों के साथ ही परिष्कार और शोधन की छैनी चलाकर मनुष्य की असंस्कृत चेतना को सुंदर आकार भी देने का सहज क्रम बनाया गया।

अन्य साधनाओं में लगे साधकों में अहंकार का भाव भी जल्दी आ सकता है, परंतु गृहस्थ एक ऐसा योगाभ्यास है, जिसमें सब कुछ सहज ढंग से चलता रहता है और साधक निरहंकार होकर अपने पत्नी-बच्चों, स्वजन संबंधियों में अपनी आत्मा का दर्शन करता रहता है। संभवतः इसी कारण मनीषियों ने गृहस्थाश्रम को चारों आश्रमों से महत्त्वपूर्ण और उनका मुख्य केंद्र बनाया। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

गृहस्थ एव जयत गृहस्थ स्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमणांतु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥

अर्थात—गृहस्थ ही वास्तविक रूप से यज्ञ करते हैं। गृहस्थ ही वास्तविक तपस्वी हैं। इसलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबका शिरमौर है।

आधुनिक विचार के कई व्यक्ति विवाह को मात्र वासनापूर्ति का साधन ही मानते हैं। यह भोग प्रधान मान्यताओं की देन है।

अन्यथा प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इसे भोग नहीं योग प्रधान दृष्टि से ही देखा है और माना है कि यह विषय भोग की सामग्री नहीं वरन दो आत्माओं के पारस्परिक सहवास द्वारा एक-दूसरे के विकास की आध्यात्मिक व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत विशुद्ध आत्मवादी दृष्टिकोण अपनाकर एक-दूसरे में अपनी आत्माओं की ही झाँकी देखकर शुद्ध आत्मसुख की प्राप्ति के लिए साधना की जाती है। मनीषियों ने इसे प्रेम और पुण्य का पवित्र प्रसाद तथा वात्सल्य और त्याग की लीलाभूमि बताया है, इसे आत्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करने वाली शांतिकुटीर निरूपित किया है। सर्वविदित है कि विवाह के उपरांत मनुष्य समाज का एक सक्रिय अंग बनता है। उसे नये संबंध प्राप्त होते हैं, नये उत्तरदायित्व मिलते हैं और नये कर्त्तव्यों के परिपालन का आनंद रसपान करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

संतानोत्पत्ति तो विवाह का एक छोटा-सा उद्देश्य है। वस्तुतः तो इस योग दीक्षा का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व की अपूर्णता को जीवनसाथी के व्यक्तित्व से पूरा करना है। संसार में रहने वाला प्रत्येक मानव अपूर्ण है। किसी व्यक्ति में कोई गुण अधिक है तो किसी गुण का अभाव है। विशेषतः स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व की विशेषताएँ तो भिन्न ही हैं और उनमें विशिष्ट गुणों का अभाव भी भिन्न है। जीवन साथी को प्राप्त कर उन गुणों की पूर्ति का प्रयास एक-दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मिलन करते हुए सरलतापूर्वक किया जा सकता है। दोनों के स्वभाव का यदि विश्लेषण किया जाए तो विदित होगा कि स्त्री में लज्जाशीलता, भीरुता, सहज ज्ञान, पातिव्रत्य, मृदुता, ऋजुता और भावुकता के गुण विशेष हैं। मानसिक संवेगों को वे तीव्रता से अनुभव करती हैं।

इसी प्रकार पुरुष में शक्ति, शौर्य, दृढ़ता, क्रोध तथा कार्यक्षमता के गुण विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं। क्रियाशीलता और प्रभुता प्रदर्शन उसके गुण हैं। पुरुष स्वभावतः मजबूत, निर्णायक, स्वाभिमानी, प्रचंड, उग्र, कठोर, अपने स्वभाव के विपरीत गुणों को एक-दूसरे से मिलाकर एक संपूर्ण व्यक्तित्व का सृजन करता है। दोनों का

सहयोग समाज की इकाई बनता है और वह इकाई ही सम्मिलित रूप से समाज को आगे बढ़ाती है।

यह एक मान्य और स्वयं सिद्ध सिद्धांत है कि दो मित्र या विपरीत गुणों वाली वस्तुएँ एक-दूसरे में जल्दी घुल-मिल जाती हैं और एक संपूर्ण इकाई का सृजन करती हैं, शक्ति का उत्पादन करती हैं। विद्युत की दो विपरीत धाराएँ मिलकर करंट पैदा करती हैं। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और वस्तु का आकार दोनों मिलकर चराचर जगत को स्थिर रखते हैं। आग और पानी का संयोग वाष्पशक्ति उत्पन्न करता है। सृष्टि नियंता की रचना ही ऐसी है कि उसमें दो विपरीत गुणों विभिन्न विशेषताओं में भाई चारे और साझेदारी के संबंध शीघ्र ही स्थापित हो जाते हैं। स्त्री और पुरुष की चारित्रिक, स्वभावगत, व्यक्तित्व की और शरीर की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ एक-दूसरे से आबद्ध होकर संपूर्ण मनुष्य की सर्जना करती हैं। यदि व्यक्तित्व के समग्र विकास की उपेक्षा कर दांपत्य जीवन को क्षुद्र प्राकृतिक आवेगों तक ही सीमित रहने दिया जाए तो गृहस्थाश्रम की सारी महिमा, गरिमा नष्ट होकर रह जाती है।

लौकिक भाषा में यदि गृहस्थ धर्म का मूल्यांकन किया जाए तो यही प्रतीत होता होगा कि गृहस्थी स्त्री और पुरुष का सम्मिलित साधना क्षेत्र है। कहा भी गया है कि गृहस्थी की तुलना साझे की दुकान से की जाती है। इसके दो साझीदार हैं—स्त्री और पुरुष। साझे की दुकान तभी सफल होती है, जबकि साझेदार एक-दूसरे के स्वभाव, प्रकृति, गुण-दोष आवश्यकता और विशेषता को समझते हों। एक-दूसरे का संपर्क और अपने साथी के स्वभाव से अवगत न होने के कारण साझे की दुकान जिस प्रकार चलना मुश्किल हो जाती है उसी प्रकार पति-पत्नी एक-दूसरे को समझकर अपने व्यवहार की रीति-नीति निर्धारित न करें तो कलह, विग्रह और क्षति जैसे अनर्थ ही उत्पन्न होंगे।

पारिवारिक समझ और आपसी तालमेल बिठा लेने मात्र से गृहस्थ धर्म का परिपालन नहीं हो जाता बल्कि इस आश्रम की महिमा और गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यह भी

आवश्यक है कि वे एक-दूसरे के लिए अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को तिलांजलि देने के लिए तत्पर रहें, सफल दांपत्य जीने वाले महापुरुषों के पारिवारिक जीवन का यदि अध्ययन किया जाए तो विदित होगा कि वे अपने जीवन साथी को सुख और शांति देने के लिए अपने स्वार्थ को—अपनी इच्छाओं को बलिदान करने की नीति अपनाते रहे हैं। स्वार्थ त्याग और जीवन साथी की हित चिंता में संलग्न रहते हुए ही औरों के लिए भी त्याग करने की भावना का विकास होता है। कहना न होगा कि इस दिशा में जो जितनी ही प्रगति कर जाता है, वह उतने ही अंशों में महान बन जाता है। महानता का यही अर्थ है कि अपने संकुचित और क्षुद्र स्वार्थों को महान बनाना—उनका क्षेत्र व्यापक विस्तृत करना।

गृहस्थ क्षेत्र में विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है, इसलिए नहीं कि वह उदारता, स्वार्थ त्याग की भावनाओं को नष्ट करता है और माया-मोह में बाँध लेता है; वरन महानता की ओर विकास की गति इसलिए अवरुद्ध हो जाती है कि लोग दांपत्य जीवन के वास्तविक अर्थ को नहीं समझते और पत्नी, बच्चों की सेवा के लिए सुख-साधनों की व्यवस्था को ही सद्गृहस्थ होने का लक्षण मान लेते हैं। इस रीति-नीति को अपनाने वाले व्यक्तियों की परिवार के संबंध में स्पष्ट मान्यता यही होती है कि पति-पत्नी, बच्चे और माता-पिता एक स्थान पर रहें। साथ-साथ खाएँ-पिएँ और एक-दूसरे की सुख-दुःख में मदद करें। परिवार का भरण-पोषण कर लेने भर ही से उनकी दृष्टि में पारिवारिक कर्त्तव्यों का निर्वाह हो जाता है। यह मान्यता पूर्णतया भ्रांतिपूर्ण है। थोड़े-से लोगों के एक साथ रहने, साथ-साथ खाने-पीने और आपस में उठने-बैठने से ही परिवार नहीं बन जाता। साथ-साथ रहना ही परिवार कहलाता तो होटलों और धर्मशालाओं में कई व्यक्ति एक साथ रहते हैं, वहाँ एक साथ एक हॉल में खाते हैं। इसलिए होटल और धर्मशालाओं को ईंट-चूने से बने मकान में रहने वाले कुछ व्यक्तियों के परिवार से बढ़िया परिवार कहना चाहिए।

परिवार के संबंध में अपनी मान्यता यह होनी चाहिए कि घर की ईंटें ही परिवार नहीं हैं। किसी परिवार के आधे लोग भले ही भिन्न-भिन्न देशों में रहें, हम उन्हें एक आदर्श परिवार कह सकते हैं यदि उनके सदस्यों में परस्पर प्रेम, सहानुभूति और संवेदना के सूत्र संबंध हों। पारिवारिक जीवन का प्राण ही प्रेम और परस्पर का सद्भाव है। यदि परिवार में सभी सदस्य परस्पर सद्भाव संपन्न हों आपस में एक-दूसरे के प्रति सच्ची-सच्ची सहानुभूति रखते हों, सौजन्यता, बलिदान और सेवा की वृत्ति हो तो ही वह परिवार आदर्श हो सकता है। परिवार साम्राज्य में इन आदर्शों की स्थापना पति और पत्नी के सम्मिलित प्रयासों द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि वह परिवार साम्राज्य के शासक और शासिका हैं। इन आदर्शों की स्थापना, स्वयं अपने जीवन में की जाए तो कौन कह सकता है कि घर-गृहस्थी मायाजाल है। बल्कि वह तो मोक्ष की, आत्मविकास की और आत्मकल्याण की सहज साध्य साधन है। आश्रम व्यवस्था का निर्धारण आत्मविकास की ही दृष्टि से किया गया था और उसमें गृहस्थाश्रम का विशिष्ट स्थान सदा से रहा है।

आश्रम व्यवस्था पर एक दृष्टि

विचारपूर्वक देखा जाए और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन किया जाए तो मनुष्य की अवस्था चार भागों में विभाजित होती है। (१) जिज्ञासा और विकास की अवस्था (२) उद्योग और उपभोग की अवस्था (३) ज्ञान और अनुभव में सामंजस्य (४) आत्मकल्याण की धारणा। इन्हीं चार बातों को लेकर यह जीवन पूर्ण होता है। इन अवस्थाओं में नियंत्रण न रखा जाए तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति अधोगामी बन सकती है। इस विचार से ही यहाँ कर्त्तव्यों की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। ये विभाग वास्तव में मानव की शक्ति और उसके स्वभाव को ही अनुसरण करके बनाए गए हैं । जीवन पद्धति में कहीं कोई विकार नहीं है। मनुष्य इन चारों अवस्थाओं का रसास्वादन करता हुआ कल्याण की स्थिति प्राप्त कर सकता है।

यदि इस तरह से भारतीय जीवन को संस्कारित न किया गया होता तो यहाँ भी अन्य देशों की तरह ही भोगवाद प्रधान रहा होता। जो शुद्धता, पवित्रता, नैतिकता, उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, शक्ति और विशेषता यहाँ के जीवन में रही है वह न होती। यहाँ के लोग वह समृद्धि सुख और आनंद प्राप्त न कर सके होते जिसके लालच में जीवनमुक्त आत्माएँ भी यहाँ लौट-लौटकर आई हैं। इस जीवन पद्धति में कोई त्रुटि नहीं, कोई शिकायत नहीं। संपूर्ण व्यवस्थित जीवन का नाम है—आश्रम-व्यवस्था। यह जीवन पद्धति की उत्कृष्ट कला का विकास है।

हिंदू धर्म में मनुष्य जीवन को लक्ष्य सिद्धि का परम पुरुषार्थ माना गया है। इस क्रम में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आते हैं। इन चारों अवस्थाओं का क्रमशः लाभ प्राप्त करता हुआ मनुष्य शाश्वत बंधन मुक्ति, सिद्धि, स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त कर ले; इस हिसाब से जीवन को भी चार भागों में विभक्त किया गया है, जो अवस्था और विकास से संयुक्त और क्रमशः हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार उद्‌देश्य का विस्तार ही (१) ब्रह्मचर्य (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ और (४) सन्यास है। नीचे उस अवस्था और स्थिति पर प्रकाश डालेंगे जिससे यह पता चलेगा कि भारतीय जीवन पद्धति का विकास कितनी बुद्धिमत्ता के साथ हुआ है और आज की अवस्था में उसकी कितनी आवश्यकता है?

ब्रह्मचर्य—प्रारंभ काल में बालक की जिज्ञासाएँ अशांत होती हैं। वह संसार और यहाँ के अनेक पदार्थों का रहस्य जानने के लिए उत्सुक होता है। साथ ही चूँकि वह प्रकृति के अत्यधिक समीप होता है अतः उसे भले-बुरे का ज्ञान भी नहीं होता। इंद्रियाँ भी विकास की ओर उन्मुख होती हैं इसलिए शक्ति-संचय और संयम की भी यही अवस्था होती है। जिज्ञासाओं की तृप्ति के लिए साधन अवस्था, स्वाभाविक प्रवृत्तियों को सुनियोजित और नियंत्रित रखने के लिए, शक्तियों के संचय के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इंद्रिय संयम ही नहीं वरन ब्रह्म प्राप्ति के संपूर्ण आचरणों का नाम ब्रह्मचर्य है। यह साधनावस्था है

इसलिए गंभीर देखरेख तथा पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रारंभिक अवस्था में बालक के विचार, संस्कार और संकल्प बहुत कोमल होते हैं, इसलिए उसका पिछले जीवन के कठिन संस्कारों की ओर झुक जाना संभव होता है। किंतु यह संस्कार यदि स्वभाव की गइराई में धँस गए तो उनका उखाड़कर बाहर निकालना कठिन हो जाता है। बालकों में श्रद्धा की मात्रा इतनी पर्याप्त होती है कि वह संस्कारों के विकास के लिए गुरुओं के कठोर नियंत्रण में बने रह सकें और आत्मसिद्धि की कठोर साधनाएँ पूर्ण निष्ठा के साथ करते रहें।

ब्रह्मचर्य का दूसरा उद्देश्य है कि सांसारिक सुखोपभोग के लिए शक्ति संचय। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जो विशुद्ध कर्त्तव्य पालन शेष रह जाता है, उसे सुविधाजनक स्थिति में चलते रहने देने की दृष्टि से शारीरिक शक्ति अपेक्षित है। जीव की शेष जीवन यात्रा शरीर द्वारा ही पूरी होती है इसलिए उसका सुदृढ़ और मजबूत होना नितांत आवश्यक है। गुरुकुलों के जीवन में इंद्रिय असंयम के कोई भी कारण शेष नहीं रहते थे। उन वातावरणों को यज्ञादि से और भी बल प्रदायक बनाया जाता था फलस्वरूप एक निश्चित समय तक वहाँ रहने से ब्रह्मचारी का मन, बुद्धि, शरीर सब पूर्ण पुष्ट और परिपक्व हो जाता था। ज्ञान की दृष्टि से, शारीरिक दृढ़ता की दृष्टि से वह पूर्ण होकर आश्रमों से निकलकर आते थे और एक उत्तरदायी जीवन-गृहस्थ जीवन के लिए सारी तैयारियाँ पूर्ण कर लेते थे।

गृहस्थ—दूसरा आश्रम गृहस्थ है। वह उद्योग, अर्थोपार्जन और सुखोपभोग का जीवन होता है। सांसारिक सुखों का भी एक निश्चित सीमा में औचित्य है। उनका उपभोग किया जाना भी अधर्म नहीं है। संतानोत्पत्ति की दृष्टि से पति-पत्नी का संयोग दोषपूर्ण नहीं है। इससे वंश चलते हैं, समाज, राज्य और राष्ट्र का निर्माण होता है। लौकिक जीवन में मनुष्य का सहयोगी भी गृहस्थ धर्म है। राष्ट्र को सबल, और सुशिक्षित, सुदृढ़ और चरित्रवान नागरिक देने की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ

गृहस्थ जीवन में परिपूर्ण होती हैं। ब्रह्मचर्य काल में व्रतधारी को जो शिक्षाएँ मिली होती हैं व्यवहार में उनका अनुभव गृहस्थ में होता है। प्रेम, दया, करुणा, मैत्री, सहानुभूति, संगठन, परोपकार, कर्त्तव्यपालन, त्याग, उदारता, क्षमा, सहिष्णुता, कष्ट परायणता आदि की व्यावहारिक रसानुभूति गृहस्थ जीवन में ही पूरी होती है। स्त्री-पुरुष मिलकर निर्माण कार्यों में सहयोग करते हैं। गृहस्थ इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना जागृत है और कर्त्तव्य पालन के लिए उसमें समुचित साहस है। अपनी भावनाओं का विकास भी इसी क्षेत्र में रहकर होता है। कष्ट और कठिनाइयों में मनुष्य की आत्मा विकसित होती चली जाती है।

बोधायन धर्म सूत्र में गृहस्थाश्रम को अनेक प्रयोजनों को पूरा करने वाला सर्वोच्च आश्रम माना है। इसमें सुखोपभोग के साथ-साथ धर्म का भी समन्वय होने से महर्षि गौतम ने गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों का मूल कहा है। जिन लोगों का यह कथन है कि गृहस्थ जीवन जंजाल है, इसमें रहकर ईश्वर उपासना का लाभ नहीं उठाया जा सकता, उन्हें जानना चाहिए कि महर्षि कण्व, जमदग्नि, विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, गौतम, शंख, दक्ष आदि अनेक ऋषि गृहस्थ ही थे और गृहस्थ में रहकर ही उन्होंने उज्ज्वल तत्त्वों की शोध की थी। वस्तुतः मनुष्य के विकास में परिवार पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। अनेक कष्ट और कठिनाइयाँ भी गृहस्थ जीवन में हँसी-खुशी के साथ काट ली जाती हैं। दूसरे तीनों आश्रमों के संचालन की व्यवस्था भी इसी से पूरी होती है।

तैरना सीखने की आवश्यकता जल में पूरी होती है। जमीन में लेटकर कोई तैरना नहीं जान सकता। जीवन में परोपकार और धर्मपालन की आवश्यकता भी इसी तरह पारिवारिक जीवन से अलग रहकर नहीं की जा सकती। अर्थ का आचरण भी उतना ही आवश्यक है यदि इसका कोई प्रयोग न किया जाए तो यह जो सांसारिक गतिविधियाँ चल रही हैं, वह सब बंद हो जाएँ और यह संसार बिल्कुल खुश्क, नीरस और जनहीन हो जाए। तब यह संसार ही जड़वत दिखाई देने लगे।

वानप्रस्थ—गृहस्थ में रहते हुए एक अवस्था ऐसी आती है जब उसके लिए अपनी आवश्यकता घटने लगती है। गृहस्थी के संचालन का उत्तरदायित्व संतान ले लेती है। अर्थ और काम प्रयोजनों को पूरा कर लेने से इंद्रियों के विषय भी काफी तृप्त हो चुके होते हैं। शास्त्रों में यह अवस्था ५० के लगभग मानी जाती है, सब लोगों को अपने कंधों का भार उतारकर परिवार के ज्येष्ठ प्रतिनिधि को सौंप देना चाहिए और लोकहित के कार्यों में अधिक रुचि लेना चाहिए। अधिक आयु के पुरुषों तथा युवकों के विचारों में प्राय: साम्य नहीं होता इसलिए पारिवारिक जीवन को अकारण कलह से बचाने के लिए भी यह आवश्यक है कि उतरती उम्र के व्यक्ति अपना जीवन समाज के लिए समर्पित कर दें। उदर-पोषण के लिए या जब तक उत्तराधिकारी पूर्णरूप से विकसित न हो जाए और उस व्यक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता बनी रहे तब तक कोई व्यक्ति पारिवारिक संपर्क में बना रह सकता है, पर उसे केवल अपने आपको व्यवस्थापक रहकर ही चलना चाहिए और जीवन का अधिकांश भाग आत्मचिंतन तथा लोकोपकारी साधनाओं में खरच करना चाहिए। अनावश्यक आसक्ति और मोह के कारण प्राय: लोग परिवार को छोड़ना नहीं चाहते, उसी से चिपटे रहना चाहते हैं। उन्हें यह गलतफहमी होती है कि यदि वे नहीं रहेंगे तो शायद बालकों का जीवित रहना कठिन हो जाएगा। यह मोह-बुद्धि परिवार में अनेक बखेड़ों का कारण बनती है। गृहस्थी का संचालन सुरुचि रूप से चलते रहने देने की दृष्टि से अपना शरीर परिवार से हटा लेना कुछ बुरा नहीं, वरन यह एक नैतिक धर्म कर्त्तव्य है। नये की स्थापना के लिए पुराने को वहाँ से हट ही जाना चाहिए।

संन्यास— संसार में रहते हुए धर्म, अर्थ, काम के त्रिविध प्रयोजन पूरे हो जाने के बाद आत्मकल्याण की स्थिति आती है। मनुष्य शरीर में जीवात्मा का अवतरण बंधन से मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए होता है। समाज और संसार में रहते हुए मानसिक उलझनें, उत्तेजनाएँ आदि रहनी स्वाभाविक थीं। अधर्म की पहिचान होते हुए भी कई बार औरों के हित की दृष्टि से उसे करना पड़ जाता है इससे अकारण

आत्म-वेदना मिलती है। अतः चौथी अवस्था में प्राणी को संसार के शेष बंधनों को भी त्यागकर अपने आपको पूर्णतया परमात्मा की इच्छा के सहारे छोड़ देना चाहिए। उस समय मनुष्य का ज्ञान पक जाता है। अकारण पैदा होने वाली दुर्भावनाएँ भी सामाजिक संपर्क से दूर हो जाने से छूट जाती हैं। न कुछ मोह रह जाता है न आसक्ति। किसी तरह का कोई कर्त्तव्य भी शेष नहीं रह जाता। परमात्मा के चिंतन में विचरण करता हुआ मनुष्य अंत में संन्यास की स्थिति में प्राण त्यागकर आनंद की अंतिम स्थिति में विलीन हो जाता है।

यह आश्रमों की परंपरा जब तक हमारे देश में जीवित रही तब तक यश, श्री और सौभाग्य में यह राष्ट्र सर्वशिरोमणि बना रहा। श्रेय और प्रेय का इतना सुंदर सामंजस्य किसी अन्य जाति या धर्म में मिलना कठिन है। हमारी कल्पना है कि मनुष्य आनंद में जन्म लेता है, आनंद में जीवित रहता और अंत में आनंद में ही विलीन हो जाता है। मनुष्य का लक्ष्य भी यही है। इस आवश्यकता की पूर्ति आश्रम व्यवस्था में ही सन्निहित है। समाज की सुदृढ़ रचना और मनुष्य के जीवन की पूर्ति के लिए आश्रम-व्यवस्था का पुनर्जागरण अत्यंत आवश्यक है और उस व्यवस्था में गृहस्थाश्रम के महत्त्व को पुनः ठीक से समझने की आवश्यकता है। वह समझा जा सके, तो घर-गृहस्थी में ही स्वर्ग का अवतरण संभव है।

ऋषियों की गृहस्थ-साधना

प्राचीनकाल में भी गृहस्थ संन्यासी, गृहस्थ वैरागी होते थे और अब भी वही प्रक्रिया अध्यात्म मार्ग पर द्रुतगति से आगे बढ़ने वाले साधकों के लिए उपयुक्त है।

भिक्षा का अन्न वही ग्राह्य है जो उच्च संस्कारवान व्यक्तियों का है और पूर्ण न्याय नीति युक्त कमाया गया है, आज ऐसा अन्न मिलना प्रायः एक प्रकार से असंभव ही है। अनीति से उपार्जित धान्य को खाकर साधना करने से साधक की बुद्धि भी वैसी ही कुसंस्कारी बनेगी। उसे न एकाग्रता प्राप्त होगी और न शांति। भजन का बहाना भले ही करते रहा जाए, न उसमें मन लगेगा

और न सफलता मिलेगी। ऐसी दशा में आज की स्थिति में भिक्षा का अन्न—मुफ्त का निर्वाह एक प्रकार से सर्वथा अवांछनीय ही है। जंगलों में कंदमूल, फल की प्राचीन सुविधा रही नहीं, अब वे वन कहाँ हैं, जहाँ थोड़ी कृषि, उद्यान, गो-पालन करके निर्वाह की व्यवस्था की जा सके। ऐसी दशा में यही उचित है कि अपने हाथ-पैर के उपार्जन से गुजारा करते हुए साधनात्मक जीवन जिया जाए।

जिसका अन्न खाया जाता है उसके बदले अपना तप, उपार्जित पुण्य देना पड़ता है। मुफ्त में यहाँ कहीं कुछ मिलने का नियम नहीं है। भौतिक जीवन का क्रम अवरुद्ध करके भजन साधन किया और जो कमाया वह अन्न वस्त्र दाता दानी के लिए चला गया। उसमें अपने लिए क्या बचा? इसमें क्या बुद्धिमानी रही। भले ही थोड़ा भजन या सेवा कार्य किया जाए पर वह स्वावलंबी होकर करना चाहिए तभी उसमें कुछ सफलता मिलेगी।

प्राचीनकाल के ऋषि-मुनि आज के साधु-बाबाओं से सर्वथा भिन्न थे। उनमें से अधिकांश गृहस्थ संन्यासी-गृही वैरागी थे। प्रकृति के समीप—शुद्ध जलवायु का आश्रय लेकर वे विरल प्रदशों में रहते थे। गौपालन, फल, शाक उत्पादन आदि निर्वाह की उपयुक्त व्यवस्था वहीं बना लेते थे। आश्रम में स्त्री-बच्चों को समेटे रहते थे। अपने परिवार को भी सुसंस्कारी और लोकोपयोगी बनाते थे। साथ ही गुरुकुल, चिकित्सा, तप, चिंतन, आगंतुकों को परामर्श विभिन्न विषयों के शोध कार्य प्रवृत्तियाँ वहाँ रहकर चलाते थे और आवश्यकतानुसार भ्रमण करके जन-जागरण की आवश्यकता पूरी करते थे। वही ऋषि जीवन था। संन्यास तो जीवन के अंतिम एवं सशक्त भाग में लिया जाता था। इससे पूर्व तो वानप्रस्थ की, ऋषि-मुनि की भूमिका ही समस्त आत्म-परायण व्यक्ति निबाहते थे।

आज की युवावस्था में संन्यास परंपरा अवैदिक—अशास्त्रीय है। उसका जन्म बुद्धकाल में हुआ। समय-समय पर उस अवांछनीय उभार का खंडन भी किया जाता रहा है। निम्न स्तर के व्यक्ति यदि

उच्च स्तर का वेश धारण कर लें तो भी वस्तुस्थिति का निर्वाह नहीं हो सकता। कोई छोटा बच्चा वृद्ध जैसी सफेद दाढ़ी, मूँछ लगा ले, अशिक्षित व्यक्ति विद्वान का वेष धारण कर ले, निर्धन होते हुए भी अमीरी का स्वांग बनाए तो वह सर्वथा उपहासास्पद ही होगा। योग्यता के अभाव में ऊँचे पद के उत्तरदायित्वों का निर्वाह हो नहीं सकेगा। फलत: अवांछनीयता के परिणाम ही सामने आवेंगे। आज की साधु-बाबाओं की भीड़ से केवल गड़बड़ी ही उत्पन्न हो रही है; उस पद के अधिकारी पात्र और उत्तरदायित्व का सही निर्माण करने वाले कोई बिरले ही कहीं-कहीं दीखते हैं।

अध्यात्म साधनाओं के पथ पर चलने के लिए साहस करने वाले व्यक्तियों को आज की स्थिति में संन्यासी होने की—कपड़े रंगने की—घर छोड़ने की जरूरत नहीं है। यदि युवावस्था हो तो गृहस्थ को आजीविका उपार्जित करते हुए इस मार्ग पर चलने का कार्यक्रम बनाना चाहिए। यदि आयु ढल गई है और बच्चे कमाने योग्य हो गए हैं। छोटे बहिन-भाइयों को सँभाल सकते हैं तो फिर वानप्रस्थ की तरह घर में रहते हुए स्वाध्याय, सेवा, संयम, साधना का क्रम निर्धारित करना चाहिए। घर से कुछ दूर निवास किया जा सकता है। पत्नी को भी साथ रखा जा सकता है। पर आजीविका की दृष्टि से स्वावलंबी ही होना चाहिए।

संचित आजीविका का प्रबंध न हो तो सेवा कार्य के बदले पारिश्रमिक लेकर निर्वाह करना चाहिए पर मुफ्त का भोजन निर्वाह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करना चाहिए। संपर्क में कोई उदार दानी हो और सेवा में सहायता करना चाहे तो उस धन को अपने लिए न लेकर लोकमंगल के लिए ही लगा देना चाहिए। प्राचीनकाल में पुरोहित द्वारा जो प्रतिग्रह लिया जाता था, वह उनके निजी काम नहीं आता था वरन सार्वजनिक सत्प्रयोजनों के लिए भी नियोजित होता था, अभी भी उसी परंपरा को अपनाया जाना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा जितनी अधिक संभव हो उतनी रखी जाए पर दुर्बल मनोभूमि के रहते उस प्रकार की प्रतिज्ञा करना अनिवार्य नहीं। हाँ साधना मार्ग पर चलने वालों को संतान की संख्या न्यूनतम

रखने का आरंभ से ही ध्यान रखना चाहिए। ढलती आयु में तो यह सतर्कता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। बुढ़ापे में संतान पैदा करना अपने साथ और उस संतान के साथ एक प्रकार से अत्याचार करना ही है।

प्राचीनकाल में ऋषि-मुनि गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे उनके स्त्री-बच्चे भी साथ रहते थे। उसके कुछ प्रमाण देखिए—

तारावृहस्पतेर्भार्या वशिष्ठस्याण्यरुन्धती।
अहिल्या गौतमस्त्री साप्यनसूयात्रिकामिनी॥
देवहूती कर्दमस्य प्रसूतिर्दक्षकामिनी।
पितृणां मानसी कन्या मेनका साम्बिकाप्रसूः।
लोपामुद्रा तथाहूती कुबेरकामिनी तथा।
वरुणानी वमस्त्री च बलेर्विन्ध्यावलीति च॥

—ब्रह्मवैवर्त पुराण

सुरगुरु वृहस्पति की भार्या का नाम तारा देवी है। वशिष्ठ की पत्नी अरुंधती है। गौतम ऋषि की पत्नी का नाम अहिल्या है। अत्रि की पत्नी अनुसूया नाम वाली है। देवहूति नाम वाली कर्दम की पत्नी है तथा दक्ष की पत्नी प्रसूति नामधारिणी है, पितृगण की मानसी कन्या मेनका अम्बिका प्रसू है। लोपामुद्रा तथा आहुति कुबेर की कामिनी है। यम की वरुणानी हैं और राजा बली की पत्नी विंध्यावली है।

गृहस्थ में रहते हुए—स्वावलंबी आजीविका उपार्जन करते हुए राजा जनक की तरह जल में कमल पत्रवत रहना संभव है। (१) उच्च मनोभूमि (२) सत्कर्म (३) वाणी का श्रेष्ठतम सदुपयोग करना, यह तीन दंड हैं। उन्हें धारण करने वाला व्यक्ति बिना वेष धारण किए त्रिदंडी संन्यासी हो सकता है।

वस्तुतः शारीरिक और मानसिक उत्कृष्टता को धारण करना ही योगी मति होने का वास्तविक आधार है। घर छोड़ देना या वेष धारण करना उसके लिए आवश्यक नहीं। प्राचीन परंपरा ऐसी ही साधना की है, जिसमें मन की क्रिया को निर्मल उत्कृष्ट बनाने पर ही सारा जोर दिया जाता रहा है। ऋषि मुनि इसी स्तर के होते रहे हैं। इसका उल्लेख शास्त्रों में सर्वत्र उपलब्ध है—

एवं निश्चित्व सुधिया गृहस्थोऽपि यदा चरेत्।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा॥

—शिव गीता

निश्चय आस्था और निर्मल बुद्धि वाला गृहस्थ भी योग साधना करते निःसंदेह सिद्धि प्राप्त करता है।

शिव गीता में उल्लेख मिलता है कि—

योग साधना में संलग्न साधक गृहस्थ रहते हुए भी संयमपूर्वक साधना करने से सिद्धि प्राप्त करता है।

घर में रहकर स्त्री-पुत्र आदि की व्यवस्था अनासक्त भाव से करते हुए योग साधना में सफलता प्राप्त कर सकता है।

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्चमनोदण्डश्चतेत्रयः।
यस्यैतेनियतादण्डाः सत्रिदण्डीमहायतिः॥

—मार्कंडेय पुराण

जिसके पास (१) वाक् दंड (२) कर्म दंड (३) मनोदंड है वही त्रिदंडी है। वही महा यति है।

व्यास स्मृति—"अपनी इंद्रियों को वश में रखने वाला मनुष्य यदि घर में ही रहे तो उसके लिए वह घर ही नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र एवं पुष्कर के समान है। जिसने अपने मन को जीत लिया उसके लिए गंगा द्वार, केदारनाथ आदि सभी तीर्थों का लाभ अपने पास ही मिल जाता है।"

प्रपश्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुताद्यतिः।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य साऽग्निहोत्री महायतिः।।

—संन्यासोपनिषद् २।१।१९

जो अपनी आत्मा में अग्नि को प्रज्वलित करता है, वही सच्चा अग्निहोत्री और महायति है।

साधनात्मक पथ पर अग्रसर होते हुए विचारवान साधकों को सांसारिक और आत्मिक दोनों भूमिकाओं का समन्वयात्मक निर्वाह करना चाहिए। प्राचीनकाल में भी ऋषि-मुनियों की जीवनचर्या यही थी, आज की दृष्टि से यही उचित एवं उपयुक्त है।

गृहस्थ धर्म तुच्छ नहीं है

ब्रह्मचर्य का पालन बहुत ही उत्तम, उपयोगी एवं लाभदायक साधना है। यह शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से हितकर है। जो जितने अधिक समय तक ब्रह्मचारी रह सके उसके लिए उतना ही अच्छा है। साधारणत: लड़कों को कम से कम २० वर्ष तक और लड़कियों को १८ वर्ष तक तो ब्रह्मचारी अवश्य ही रहना चाहिए। जो अपने मन को वश में रख सके वे अधिक समय तक रहें।

ब्रह्मचर्य में मानसिक संयम प्रधान है। यदि मन वासनाओं में भटकता रहे और शरीर को हठपूर्वक संयम में रखा जाए तो उससे लाभ की जगह पर हानि ही है। शारीरिक काम सेवन से जितनी हानि है, उससे कई गुनी हानि मानसिक असंयम से है। वीर्यपात की क्षति आसानी से पूरी हो जाती है परंतु मानसिक विषय-चिंतन से जो उत्तेजना पैदा होती है, वह यदि तृप्त न हो तो कुचले हुए सर्प की तरह क्रुद्ध होकर अपने छेड़ने वालों के ऊपर आक्रमण करती है।

मनोविज्ञान शास्त्र के यशस्वी आचार्य डॉक्टर फ्राइड, डॉक्टर ब्राईन, डॉक्टर बने प्रभृति विद्वानों का मत है कि वासनाएँ कुचली जाने पर सुप्त मन के किसी कोने में एक बड़ा घाव लेकर पड़ी रहती हैं और जब अवसर पाती हैं तभी भयानक शारीरिक या मानसिक रोगों को उत्पन्न करती हैं। उनका कहना है कि पागलपन, मूर्छा, मृगी, उन्माद, नाड़ी-संस्थान का विक्षेप, अनिद्रा कायरता आदि अनेक रोग वासनाओं के अनुचित रीति से कुचले जाने के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य की पहली शर्त, 'मन की स्थिरता' मानी गई है। जिसका मन किन्हीं उत्तम विचारों में निमग्न रहता है, विषय वृत्तियों की ओर जिसका ध्यान नहीं जाता, या जाता है तो तुरंत ही अरुचि और घृणापूर्वक वहाँ से हट जाता है, वे ही ब्रह्मचारी हैं। जिसका मन वासना में भटकता है, चित्त पर जो काबू रख नहीं पाते, उनके शारीरिक ब्रह्मचर्य को विडंबना ही कहा जा सकता है।

किसी स्रोत में पानी का प्रवाह जारी हो किंतु उसके बहाव के मार्ग को रोक दिया जाए तो वह पानी जमा होकर दूसरे मार्ग से फूट निकलेगा। मन से विषय चिंतन और बाहर से ब्रह्मचर्य यह भी इसी प्रकार का कार्य है। मन में वासना उत्पन्न होने से जो उत्तेजना पैदा होती है वह फूट निकलने के लिए कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ती है। साधारण मार्ग बंद हो तो कोई और मार्ग बनाकर बह निकलती है। यह नया मार्ग अपेक्षाकृत बहुत खतरनाक और हानिकारक साबित होता है।

संसार भर की जनगणना की रिपोर्टों का अवलोकन करने से यह सचाई और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। विवाहित स्त्री-पुरुषों की प्रतिशत जितनी मृत्यु होती हैं विधवा या विधुरों की मृत्यु का अनुपात प्राय: उससे ड्योढ़ा रहता है। मोटी दृष्टि से देखने पर विवाहितों की जीवनी शक्ति अधिक और अविवाहितों की कम खरच होती है, इससे विवाहितों की अल्पायु और रोगी रहने की संभावना प्रतीत होती है, परंतु होता इसका ठीक उल्टा है। विवाहित लोग संभोगजन्य क्षय, बालकों का भरण-पोषण, अधिक चिंता तथा अधिक जिम्मेदारी आदि के भार को खींचते हुए भी जितनी आयु और निरोगता प्राप्त करते हैं अविवाहित लोग उतनी नहीं कर पाते। इसका एक मात्र कारण वासना की अतृप्ति से उत्पन्न हुआ मानसिक उद्वेग है, जो बड़ा घातक होता है, उसकी विषाक्त ज्वाला से सारे जीवन तत्त्व भीतर ही भीतर जल-भुन जाते हैं। चित्त की अस्थिरता और अशांति के कारण कोई कहने लायक महान कार्य भी उनसे संपादित नहीं हो पाता, कोई बड़ी सफलता भी नहीं मिल पाती। इस प्रकार विवाहितों की अपेक्षा यह अविवाहित अधिक घाटे में रहते हैं।

पाठकों को हमारा आशय समझने में भूल न करनी चाहिए। हम ब्रह्मचर्य की अपेक्षा विवाहित जीवन को अच्छा बताने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। ब्रह्मचर्य एक अत्यंत उपयोगी और हितकारी साधना है इसके लाभों की कोई गणना नहीं हो सकती। इन पंक्तियों में हम मानसिक असंयम और विवाहित जीवन की तुलना कर रहे

हैं। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना में अपने को समर्थ न पावें, जो मानसिक वासना पर काबू न रख सकें उनके लिए यही उचित है कि विवाहित जीवन व्यतीत करें। होता भी ऐसा ही है, सौ में से निन्यानवे आदमी गृहस्थी जीवन बिताते हैं। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में कोई अनुचित बात भी नहीं है।

यह सोचना ठीक नहीं कि गृहस्थाश्रम में बँधने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा को ऊँचा उठाकर परमात्मा तक ले जाना यह पुनीत आत्मिक साधना अंत:करण की भीतरी स्थिति से संबंध रखती है। बाह्य जीवन से इसका कुछ भी संबंध नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ व संन्यासी आत्मसाधना द्वारा जीवन लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं वैसे ही गृहस्थ भी कर सकते हैं। सदा सनातन काल से ऐसा होता आया है। आध्यात्म साधकों में गृहस्थ ही हम अधिक देखते हैं। प्राचीनकाल के ऋषिगण आज के गैर-जिम्मेदार और अव्यवस्थित बाबाजियों से सर्वथा भिन्न थे। घनी बस्ती न बसाकर स्वच्छ वायु में दूर-दूर तक घर बनाना, पक्के मकान न बनाकर छोटी झोंपड़ियों में रहना, वस्त्रों से लदे न रहकर शरीर को खुला रखना आदि उस समय की साधारण प्रथाएँ थीं। उस समय के राजा तथा देवताओं के जो चित्र मिलते हैं, उनमें वे सब भी कटि वस्त्र के अतिरिक्त और कोई कपड़ा पहने नहीं दीखते। यह उस समय की परिपाटी थी। आज जिस वेष-भूषा की नकल करके लोग अपने को साधु मान लेते हैं, वह पहनाव-उड़ाव रहन-सहन उस समय में सर्वसाधारण का था।

यह एक बिलकुल ही बे सिर पैर का विचार है कि पुराने समय में ऋषि लोग अविवाहित ही रहते थे। यह ठीक है कि ऋषि-मुनियों में कुछ ऐसे भी थे, जो बहुत समय तक अथवा आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे, पर उनमें से अधिकांश गृहस्थ थे। स्त्री-बच्चों के साथ होने से तपश्चर्या में आत्मोन्नति में उन्हें सहायता मिलती थी। इतिहास-पुराणों में पग-पग पर इस बात की साक्षी है कि भारतीय महर्षिगण, योगी, यती, साधु, तपस्वी, अन्वेषक, चिकित्सक, वक्ता, रचयिता, उपदेष्टा, दार्शनिक, अध्यापक, नेता आदि विविध रूपों

में अपना जीवन-यापन करते थे और अपने महान कार्य में स्त्री-बच्चों को भी भागीदार बनाते थे।

आध्यात्मिक मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले साधक के सामने आज अज्ञान और अविवेक भरे मूढ़-विश्वासों ने एक भारी उलझन पैदा कर दी है। आत्म-साधना गृहस्थ से नहीं हो सकती, स्त्री-नरक का द्वार है, कुटुंब-परिवार माया का बंधन है, इनके रहते भजन नहीं हो सकता, परमात्मा नहीं मिल सकता, इस प्रकार की अज्ञानजन्य भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ साधक के मस्तिष्क में चक्कर लगाती हैं। परिणाम यह होता है कि या तो वह आत्ममार्ग को अपने लिए असंभव समझकर उसे छोड़ देता है या फिर पारिवारिक महान उत्तरदायित्व को छोड़कर भीख-टूक माँग खाने के लिए घर से निकल भागता है। परिवार उसे गले में बँधे हुए चक्की के पाट की तरह भार रूप प्रतीत होता है। उपेक्षा, लापरवाही, गैर-जिम्मेदारी की दृष्टि से बर्ताव करने के कारण उसके हर व्यवहार में कुरूपता एवं कटुता रहने लगती है। स्त्री बच्चे सोचते हैं कि यह हमारे जीवन को दु:खमय बनाने वाला है, शत्रुता के भाव मन में जगते हैं, प्रतिशोध की वृत्तियाँ पैदा होती हैं। कटुता, कलह, घृणा और तिरस्कार के विषैले वातावरण की सृष्टि होती है। उस वातावरण में रहने वाला कोई भी प्राणी स्वस्थता और प्रसन्नता कायम नहीं रख सकता।

वास्तविक बात यह है कि आत्म-साधक में जो विक्षेप पैदा होता है उसका कारण अपनी कुवासना, संकीर्णता, तुच्छता, अनुदारता और स्वार्थपरता है। यह दुर्भाव ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास जिस भी आश्रम में रहेंगे उसे ही पापमय बना देंगे। उसके विपरीत यदि अपने मन में त्याग, सेवा, सत्यता, सज्जनता एवं उदारता की भावनाएँ विद्यमान हों तो कोई भी आश्रम स्वर्गदायक, मुक्तिप्रद, परम पद देने वाला हो सकता है। आध्यात्मिक साधकों को अपने मन में से इस भ्रम को पूर्णतया बहिष्कृत कर देना चाहिए कि गृहस्थाश्रम कोई छोटा या गिराने वाला धर्म है। यदि समुचित रीति से उसका पालन किया जाए तो ब्रह्मचर्य या संन्यास की तरह वह भी सिद्धिदाता प्रमाणित हो सकता है।

गृहस्थ धर्म जीवन का एक पुनीत आवश्यक एवं उपयोगी अनुष्ठान है। स्त्री और पुरुष के एकत्रित होने से दो अपूर्ण जीवन एक पूर्ण जीवन का रूप धारण करते हैं। पक्षी के दो पंखों की तरह स्त्री और पुरुष का मिलन एक दृढ़ता एवं स्थिरता की सृष्टि करता है। शारीरिक और मानसिक तत्त्व के आचार्य जानते हैं कि कुछ तत्त्वों की पुरुष में न्यूनता और स्त्री में अधिकता होती है। इसी प्रकार कुछ तत्त्व स्त्री में कम होते हैं। इस अभाव की पूर्ति दोनों के सहचरत्व से होती है। स्त्री–पुरुष में एक–दूसरे के प्रति जो असाधारण आकर्षण होता है उसका कारण वही क्षतिपूर्ति है। मन की सूक्ष्म चेतना अपनी क्षतिपूर्ति के उपयुक्त साधनों को प्राप्त करने के लिए विचलित होती है तब उसे संयोग की अभिलाषा कहा जा सकता है। अंध और पंगु मिलकर देखने और चलने के लाभों को प्राप्त कर लेते हैं ऐसे ही लाभ एक–दूसरे की सहायता से दंपत्ति को मिल जाते हैं।

मूलतः न तो पुरुष बुरा है न स्त्री। दोनों ही ईश्वर की पवित्र कृतियाँ हैं। दोनों में ही आत्मा का निर्मल प्रकाश जगमगाता है। पुरुष का कार्यक्षेत्र घर से बाहर रहने के कारण उसकी बाह्य योग्यताएँ विकसित हो गई हैं। वह बलवान, प्रभावशाली, कमाऊ और चतुर दिखाई देता है, पर इसके साथ–साथ ही आत्मिक सद्गुणों को इस बाह्य संघर्ष के कारण उसने बहुत कुछ खो दिया है। सरलता, सरसता, वफादारी, आत्मत्याग, दयालुता प्रेम तथा वात्सल्य की वृत्तियाँ आज भी स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक देखी जाती हैं। मुद्दतों से शिक्षा, दीक्षा, अनुभव एवं सामाजिक कार्यक्षेत्र से पृथक एक छोटे पिंजड़े से घर में जीवन भर बंद रहने और अपने जैसी अन्य मूर्खों की संगति मिलने के कारण वे बेचारी व्यावहारिक ज्ञान में बहुत कुछ पिछड़ गई हैं तो भी उनमें आत्मिक सद्गुण पुरुषों की अपेक्षा बहुत अधिक विद्यमान है। उनके सान्निध्य से नरक, पतन, माया, बंधन जैसे किसी संकट के उत्पन्न होने की आशंका नहीं है, सच तो यह है कि उनके पवित्र आँचल की छाया में बैठकर पुरुष अपनी शैतानी आदतों से बहुत कुछ छुटकारा पा

सकता है, उनकी स्नेह गंगा के अमृत जल का आचमन करके अपने कलुष-कषायों से, पाप-तापों से छुटकारा पा सकता है।

जिनका अंत:करण पवित्र है वे कोमलता की अधिकता के कारण स्त्री में अधिक सत्तत्त्व का अनुभव करते हैं। हजरत मुहम्मद साहब कहा करते थे कि 'नारी का महत्त्व मैं इसलिए नहीं मानता कि विधाता ने उसे सुंदर बनाया है, न उससे इसलिए प्रेम करता हूँ कि वह प्रेम के लिए उत्पन्न हो गई है। मैं तो उसे इसलिए पूज्य मानता हूँ कि मनुष्य का मनुष्यत्व केवल उसी में जीवित है।' दिव्यदर्शी टेलर ने अपनी अनुभूति प्रकाशित की थी कि—'स्त्री की सृष्टि में ईश्वरीय प्रकाश है। वह एक मधुर सरिता है जहाँ मनुष्य अपनी चिंताओं और दु:खों से त्राण पाता है। दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—सृष्टि के आदि में मनुष्य अपंग था, वह पृथ्वी के एक कोने में पड़ा सिसक रहा था। स्त्री ने ही उसे उठाया और पालकर बड़ा किया। आज वही कृतघ्न उन स्त्रियों को पैर की जूती समझता है।' कवि हालग्रच की अनुभूति है कि—स्त्रियाँ भूलोक की कविता हैं। पुरुष के भाग्य का विस्तार उन्हीं के हाथ में है। कालाईल कहा करते थे—'यदि तुम प्रेम के साक्षात दर्शन करना चाहते हो तो माता के गद्गद् नेत्रों को देखो।' सृष्टि के आरंभ काल का दिग्दर्शन कराते हुए संत केववैल ने कहा कि—'जब तक आदम अकेला था तब तक उसे स्वर्ग भी कंटकाकीर्ण था। देवताओं के गीत, शीतल समीर और ललित वाटिकाएँ उसके लिए सभी व्यर्थ थीं, यह सब होते हुए भी उदास रहता था और आहें भरता था, परंतु जब उसे हब्बा मिल गई तो सारा दु:ख दूर हो गया। काँटे फूलों में बदल गए।'

जिन संतों ने अपने पवित्र नेत्रों से नारी को देखा है उन्हें उसमें ईश्वर की सजीव कविता मूर्तिमान दिखाई दी है। जिनकी आँखों में पाप है उनके लिए बहिन, बेटी और माता की समीपता में ही नहीं, प्रत्येक जड़-चेतन की समीपता का खतरा है, जिनके आँचल में आग बँधी हुई है उसके लिए सर्वत्र अग्निकांड का खतरा है। जिसकी आँखों पर हरा ठंडा चश्मा है उसके लिए कड़ी धूप भी

शीतल है। पाठको! अपना दृष्टिकोण पवित्र बनाओ। विश्वास रखो, राजा जनक की भाँति आप भी गृहस्थ में रहते हुए सच्चे महात्मा बन सकते हैं।

गृहस्थ-धर्म अन्य सभी धर्मों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। महर्षि व्यास के शब्दों में '**गृहस्थेव हि धर्माणा सर्वेषां मूल मुच्यते**' गृहस्थाश्रम ही सभी धर्मों का आधार है। 'धन्यो गृहस्थाश्रम' चारों आश्रमों मे गृहस्थाश्रम धन्य है। जिस तरह समस्त प्राणी माता का आश्रय पाकर जीवित रहते हैं, उसी तरह सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं।

परिवार-संस्था सहजीवन के व्यावहारिक शिक्षण की प्रयोगशाला है। इसीलिए कुटुंब समाज संस्था की इकाई माना जाता है। गृहस्थ में बिना किसी संविधान, दंड-विधान, सैनिक शक्ति के ही सब सदस्य परस्पर सहयोगी सहजीवन बिताते हैं। माता, पिता, पुत्र, पति-पत्नी, नाते-रिश्तों के संबंध किसी दंड के भय कानून की प्रेरणा पर कायम नहीं होते, वरन वे स्वेच्छा से कुल, कर्म, परंपरा, आनुवंशिक संस्कारों पर निर्भर करते हैं। प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी मर्यादाओं का पालन करने में अपनी प्रतिष्ठा, कल्याण, गौरव की भावना रखकर खुशी-खुशी उन्हें निभाने का प्रयत्न करता है। कुटुंब के साथ सहजीवन में आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थों का त्याग करने में भी प्रसन्नता अनुभव करता है। यही सहजीवन की सर्वोपरि आवश्यकता होती है। बिना अपने स्वार्थों का त्याग किए, कष्ट सहन किये सहजीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती और उसमें भी विशेषता यह है कि यह त्याग-सहिष्णुता-स्वेच्छा से खुशी के साथ वहन की जाती है। सह-जीवन के लिए ऐसा शिक्षण और कहाँ मिल सकता है?

कुटुंब के निर्माण के लिए फिर किसी कृत्रिम उपाय संकल्प विधान की आवश्यकता नहीं होती। परिवार अपने आप में 'स्वयं-सिद्ध' संस्था है। माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-ताऊ, पुत्र आदि के चुनाव करने की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ गृहस्थ है वहाँ ये सब तो हैं ही और इन संबंधों को स्थिर रखने के लिए किसी कृत्रिम

उपाय की भी आवश्यकता नहीं होती। कुटुंब तो सहज आत्मीयता पर चलते हैं।

कहावत है—'पानी की अपेक्षा खून अधिक गाढ़ा होता है, इसीलिए एक ही जलाशय के पास बसने वालों की अपेक्षा एक कुटुंब में बँधे लोगों के संबंध अधिक प्रगाढ़, आत्मीय, अभेद्य होते हैं।' कितना ही बैर क्यों न पैदा हो जाए लेकिन खून का असर आदमी के दिल और दिमाग से हट नहीं सकता। एक खून का व्यक्ति अपने साथी से स्वयं लड़ लेगा लेकिन दूसरे का आक्रमण बर्दाश्त नहीं करता। दुनियाँ में सब संबंध परिस्थितिवश टूट सकते हैं लेकिन खून का नहीं। कोई पुत्र अपने पिता से यह नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारा बेटा नहीं। कोई भाई अपनी बहिन से यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मैं तुम्हारा भाई नहीं। खून का संबंध स्वयं सिद्ध है। एक माता-पिता अपने पुत्र के लिए जितना सोच सकते हैं, उतना हृदयपूर्वक अन्य कोई नहीं सोच सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक ही खून से सींची हुई कुटुंब-संस्था गृहस्थ-जीवन का अलौकिक चमत्कार है।

गृहस्थ का आधार है, वैवाहिक जीवन। स्त्री और पुरुष विवाह संस्कार के द्वारा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते हैं। तब वे गृहस्थाश्रमी कहलाते हैं। स्मरण रहे विवाह संस्कार का अर्थ दो शरीरों का मिलन नहीं होता। हमारे यहाँ विवाह स्थूल नहीं, वरन हृदय की, आत्मा की, मन की एकता का संस्कार है। जो विवाह को शारीरिक निर्बाध कामोपभोग का सामाजिक स्वीकृति-पत्र समझते हैं, वे भूल करते हैं। वे अज्ञान में हैं। विवाह का यह प्रयोजन कदापि नहीं है। भारतीय जीवन पद्धति में उसका उद्देश्य बहुत बड़ा है, दिव्य है, पवित्र है। विवाह के समय वर कहता है—

द्यौरहं पृथ्वी त्वं सामाहम्ह्वत्वम्।
सम्प्रिदौ रोचिष्णु सुमनस्यमानौजीवेम शरदः शतम्॥

मैं आकाश हूँ, तू पृथ्वी है। मैं सामवेद हूँ, तू ऋग्वेद है। हम एक-दूसरे पर प्रेम करें, एक-दूसरे को सुशोभित करें। एक-दूसरे के प्रिय बनें। एक-दूसरे के साथ निष्कपट व्यवहार करके सौ वर्ष तक जिएँ।

यह कभी नहीं कहा गया है कि पति और पत्नी दो शरीर हैं, उन दोनों शरीरों का मिलन विवाह है अथवा भोगासक्त जीवन बिताकर अल्प आयु में मरना ही विवाह का उद्‌देश्य है।

आकाश और पृथ्वी का सहज मिलन पति-पत्नी के संबंधों का अपूर्व आदर्श है। विवाह, ज्ञान और कला का संगम है। प्रेम के लिए एक-दूसरे का अर्पण कर देने का विधान है, दो हृदयों को निष्कपट-खुले व्यवहार सूत्र में पिरोने का विधान है। विवाह संयम पूर्वक लेकिन आनंदमय जीवन बिताकर पूर्ण आयु प्राप्त करने का सहज मार्ग है।

गृहस्थ का उद्‌देश्य स्त्री-पुरुष एवं अन्य सदस्यों का ऐसा संयुक्त जीवन है, जो उन्हें शारीरिक सीमाओं से ऊपर उठाकर एक-दूसरे के प्रति निष्ठा, आत्मीयता, एकात्मता की डोर में बाँध देता है। यह डोर जितनी प्रगाढ़-पुष्ट होती जाती है, उतनी ही शारीरिकता गौण होती जाती है। ऐसी परिस्थिति में शरीर भले ही रोगी, कुरूप हो जाए लेकिन पारस्परिक निष्ठा कम नहीं होती।

एक स्त्री ही संसार में सबसे सुंदर और गुणवती नहीं होती, लेकिन पति के लिए सृष्टि में उसके समान कोई नहीं। संसार में सभी माँ एक-सी नहीं होतीं लेकिन प्रत्येक माँ अपने बच्चे के लिए मानो वात्सल्य की साकार प्रतिमा है। एक गरीब कंजर अशिक्षित माँ के अंक में बालक को जो कुछ मिल सकता है, वह किसी दूसरी स्त्री के पास नहीं मिल सकता। प्रत्येक बालक के लिए माँ उसकी जननी ही हो सकती है और काना, कुरूप, गंदा अविकसित बालक भी माँ के लिए सबसे अधिक प्रिय होता है। धर्म की बहिन कितनी ही बना ली जाएँ लेकिन भाई के लिए जो उमड़ता-घुमड़ता हृदय एक सहोदर बहिन में हो सकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस तरह हम देखते हैं कि गृहस्थाश्रम शारीरिक संबंधों पर टिका हुआ है। अपितु स्नेहमय, दिव्य, सूक्ष्म आधार स्तंभों पर इस पुण्य भवन का निर्माण होता है। पारिवारिक जीवन में परस्पर संबंधों की यह दिव्यता ही गृहस्थ जीवन की आत्मा है।

गृहस्थाश्रम वृत्तियों का शोधन करने, जीवन की साधना करने की एक रचनात्मक प्रयोगशाला है। मनुष्य की काम वासना को पति-पत्नी में एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य, निष्ठा, प्रेम में परिवर्तित करके कामोपभोग को एक सांस्कृतिक संस्कार बनाकर सामाजिक मूल्य में बदल देना गृहस्थाश्रम की ही देन है। स्मरण रहे गृहस्थाश्रमी शरीरनिष्ठ अथवा रूपनिष्ठ नहीं होता। कर्त्तव्य उत्तरदायित्व, प्रेम की निष्ठा ज्यों-ज्यों बढ़ती है, शारीरिकता नष्ट होने लगती है और क्रमशः पूर्णरूपेण शारीरिकता का अंत होकर उक्त दिव्य आधार मुख्य हो जाते हैं। कामुकता भी नष्ट हो जाती है। इसलिए गृहस्थाश्रम कामोपभोग का प्रमाण पत्र नहीं, अपितु संयम-ब्रह्मचर्य मूलक है। संयम का एक क्रमिक लेकिन व्यावहारिक साधना-स्थल है। सेवा-सुश्रूषा, पालन-पोषण, शिक्षण, एक दूसरे के प्रति प्रेम, त्याग, सहिष्णुता के माध्यम से मनुष्य की काम शक्ति संस्कारित, निर्मल होकर मनुष्य को व्यवस्थित संयत, दिव्य बनाने का आधार बन जाती है।

गृहस्थ तप और त्याग का जीवन है। गृहस्थ के निर्वाह पालन के लिए किये जाने वाला प्रयत्न किसी तप से नहीं कम है। कुटुंब का भार वहन करना, परिवार के सदस्यों के लिए सुविधापूर्ण जीवन के साधन जुटाना, स्त्री, बच्चे, माता-पिता अन्य परिजनों की सेवा करना बहुत कठिन तपस्या है। गृहस्थ में स्वयमेव मनुष्य को अपनी अनेकों प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना पड़ता है। कोई भी गृहस्थ स्वयं कम खा लेता है, पुराना कपड़ा पहन लेता है, लेकिन परिवार के सदस्यों की चिकित्सा, वस्त्र, भोजन, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए सब प्रबंध करता है। पेट काटकर भी माँ-बाप बच्चों को पढ़ाते हैं। फटा कपड़ा स्वयं पहनकर बच्चों को अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाते हैं। गृहस्थ में जिम्मेदार व्यक्ति के सामने अन्य सदस्यों को सुखी संतुष्ट रखने का ध्यान प्रमुख होता है, स्वयं का गौण। उधर गृहिणी सबसे पीछे जो बच जाता है वह खा लेती है। सबकी सेवा में दिन-रात लगी रहती है। बिना किसी प्राप्ति की इच्छा से सहज रूपेण। सचमुच गृहस्थाश्रम एक यज्ञ है—तप और त्याग का। प्रत्येक

सदस्य उदारतापूर्वक सहज ही एक-दूसरे के लिए कष्ट सहता है, एक-दूसरे के लिए त्याग करता है।

गृहस्थाश्रम समाज को सुनागरिक देने की खान है। भक्त, ज्ञानी, संत, महात्मा, महापुरुष, विद्वान, पंडित गृहस्थाश्रम से ही निकलकर आते हैं। उनके जन्म से लेकर शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण, ज्ञान-वर्द्धन गृहस्थाश्रम के बीच ही होता है। परिवार के बीच ही मनुष्य की सर्वोपरि शिक्षा होती है।

गृहस्थाश्रम की सर्वोपरि उपलब्धि है उसका आतिथ्य धर्म। आतिथ्य धर्म कितना बड़ा सामाजिक मूल्य है, जिसे कहीं भोजन न मिले, जो संयोग से ही पहुँच जाए उसे भोजन कराए वगैर गृहस्थी, भोजन नहीं करता। गाँव में, पास, पड़ौस में कोई भूखा न रह जाए, इसके लिए प्रतिदिन नियमपूर्वक किसी अतिथि को भोजन कराए बिना कुछ भी न खाना, हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम की परंपरा है। अन्य उच्च कार्यों में लगे त्यागी, तपस्वी, संन्यासी, सेवकों का जीवन गृहस्थाश्रम से ही होता है।

गृहस्थाश्रम समाज के संगठन, मानवीय मूल्यों की स्थापना, समाजनिष्ठा, भौतिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक-मानसिक विकास का क्षेत्र है। गृहस्थाश्रम ही समाज के व्यवस्थित स्वरूप का मूलाधार है।

गृहस्थ में वैराग्य

गृहस्थ आश्रम की निंदा करते हुए कोई-कोई सज्जन ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि—घर गृहस्थी में पड़ना माया के बंधन में फँसना है। उसकी दृष्टि में घर-गृहस्थी माया का पिटारा है और बिना गृहस्थी रहना स्वर्ग की निशानी है। परंतु विचार करने पर प्रतीत होता है कि उपरोक्त कथन का कुछ विशेष अर्थ नहीं है। कारण यह है माया का बंधन बाहरी वस्तुओं या बाहरी मनुष्यों में नहीं वरन अपनी मनोवृत्तियों में है। यदि मन अपवित्र है, काम, क्रोध, लोभ से भरा हुआ है तो जो बातें गृहस्थ में होती हैं, वही संन्यास से बाहर भी हो सकती हैं। हमने देखा है कि बहुत-से

बाबाजी कहलाने वाले महाराज भिक्षा माँग-माँगकर धन जोड़ते हैं, मरने पर उनके पास प्रचुर धनराशि निकलती है। हमने देखा है कि गृह-विहीन लोगों की इंद्रियाँ भी लोलुप होती हैं शब्द, स्पर्श, रुप रस, गंध में वे लोलुप रुचि प्रकट करते हैं, उनके आकर्षण से आकर्षित होते हैं। अपनी वस्तुओं से, कुटी, वस्त्र, पुस्तक, पात्र, शिष्य, साथी आदि से ममता रखते हैं। यही सब बातें ही दूसरे रूप में गृहस्थ में होती हैं।

वैराग्य, त्याग, विरक्ति इन महातत्त्वों का सीधा संबंध अपने मनोभावों से है। यदि भावनाएँ संकीर्ण हों, कलुषित हों, स्वार्थमयी हों तो चाहे जैसी उत्तम सात्विक स्थिति में मनुष्य क्यों न रहे मन का विकार वहाँ भी पाप की दुराचार की सृष्टि करेगा। यदि भावनाएँ उदार एवं उत्तम हैं, तो अनगिन और अनिष्टकारक स्थिति में भी मनुष्य पुण्य एवं पवित्रता उत्पन्न करेगा। महात्मा इमर्सन कहा करते थे कि "मुझे नरक में भेज दिया जाए तो भी मैं वहाँ अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।" वास्तविक सत्य यही है, हर आदमी अपनी भीतरी स्थिति का प्रतिविंब दुनियाँ के दर्पण में देखता है। यदि उनके मन में माया है, तो घर, बाहर, वन, अरण्य, मंदिर, स्वर्ग सब जगह माया है, माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि मन साफ है, पवित्रता, प्रेम और परमार्थ की दृष्टि है तो घर का एक कोना पुनीत तपोवन से किसी भी प्रकार कम न रहेगा। राजा जनक प्रभृति अनेकों ऋषि हुए हैं जिन्होंने गृहस्थ में रहने की साधना की और परम पद पाया।

वीरता भागने में नहीं, वरन लड़ने में है। यदि गृहस्थाश्रम में अधिक कठिनाइयाँ हैं तो उनसे डरकर दूर रहना उचित नहीं। पानी में घुसे बिना तैरना कैसे सीखा जाएगा? कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं अखाड़े में जाकर व्यायाम करने की कठिनाई में पड़ना नहीं चाहता, परंतु पहलवान बनना चाहता हूँ, तो उसकी यह बात बालकों जैसी अनगढ़ होगी। काम, क्रोध, लोभ, मोह के दाव-घातों को देखना, उनसे परिचित होना, उनसे लड़कर विजय प्राप्त करना, इन्हीं सब अभ्यासों के लिए वर्णाश्रम धर्म के तत्त्वदर्शी, आचार्य गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ

सर्वोपरि आश्रम बताते हैं। संपूर्ण देवर्षि इसी महान गुफा में से उत्पन्न और विकसित हुए हैं। जरा कल्पना तो कीजिए—यदि गृहस्थ धर्म, जिसे निर्बुद्धि लोग माया या बंधन तक कह बैठते हैं न होता तो राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गाँधी कहाँ से आते? सीता, सावित्री, अनुसूइया, मदालसा, दमयंती, पार्वती आदि सतियों का चरित्र कहाँ से सुन पड़ता? इतिहास के पृष्ठों पर जगमगाते हुए उज्ज्वल हीरे किस प्रकार दिखाई देते? अन्य तीनों आश्रम बच्चे हैं, गृहस्थ उनका पिता है। पिता को बंधन कहना, नरक बताना, त्याज्य ठहराना एक प्रकार की विवेकहीनता है।

उत्तरदायित्वों का भार पड़े बिना कोई व्यक्ति वास्तविक, गंभीर, जिम्मेदार और भारी भरकम नहीं होता। अल्हड़ बछड़े बहुत कूदते-फांदते और दुलत्तियाँ उड़ाते हैं परंतु जब कंधे पर भार पड़ता है तो सावधानी से एक-एक कदम रखना पड़ता है। हाथी जब गहरे पानी में धँसता है तो अपना एक पैर भली प्रकार जमा लेता है, तब दूसरे को आगे रखता है। उसकी सारी सावधानी और होशियारी उस समय एक स्थान पर केंद्रीभूत हो जाती है। जिस चित्तवृत्ति निरोध को, एकाग्रता को पातंजलि ने योग बताया है, वह एकाग्रता कोरी बातूनी जमाबंदी से नहीं आती, उसके लिए एक प्रेरणा जिम्मेदारी चाहिए। गृहस्थाश्रम का बोझ पड़ने पर मनुष्य जिम्मेदारी की ओर कदम बढ़ाता है। अपना और अपने परिवार का बोझ पीठ पर लादकर उसे चलना पड़ता है इसलिए उच्छृंखलता को छोड़कर वह जिम्मेदारी अनुभव करता है। यह जिम्मेदारी ही आगे चलकर विवेकशीलता में परिणत हो जाती है। राजा को एक साम्राज्य के संचालन की बागडोर हाथ में लेकर जैसे संभल-संभलकर चलना पड़ता है वैसे ही एक सद्‌गृहस्थ को पूरी दूरदर्शिता, विचारशीलता, धैर्य, सहनशीलता और आत्मसंयम के साथ अपना हर एक कदम उठाना पड़ता है। चाबुक सवार जैसे घोड़े को अच्छी चाल चलना सिखाकर उसे हमेशा के लिए बढ़िया घोड़ा बना देता है, वैसे ही गृहस्थ धर्म भी ठोक-पीटकर कड़वे-मीठे अनुभव कराकर एक मनुष्य को आत्म-संयमी, दूरदर्शी, गंभीर एवं स्थिरचित्त बना देता है

यह सब योग के लक्षण हैं। जैसे फल पककर समयानुसार डाली से स्वयं अलग हो जाता है वैसे ही गृहस्थ की डाल से चिपका हुआ मनुष्य धीरे-धीरे आत्मनिग्रह और आत्मत्याग की शिक्षा पाता रहता है और अंततः एक प्रकार का योगी हो जाता है।

लिप्सा, लालसा, तृष्णा, लोलुपता, मदांधता, अविवेक आदि बातें त्याज्य हैं। यह बुरी बातें गृहस्थ आश्रम में भी हो सकती हैं और अन्य आश्रमों में भी। इसीलिए गृहस्थ आश्रम त्यागने योग्य नहीं वरन अपनी कुवासनाएँ ही त्यागने योग्य हैं।

गृहस्थ एक योग साधना

गृहस्थ धर्म एक योग-साधन है जिसमें मनुष्य पर पग-पग पर उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्यों का भार है। यह आश्रम हमें आगे आने वाले कष्टसाध्य जीवन की तैयारी कराता है। यदि इसमें रहकर हम इंद्रिय सुखों की निस्सारता, क्षण भंगुरता एवं नीरसता को न जानें और सीधे वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम ग्रहण करलें, तो हमारी बढ़ी साधना में वासनाओं और क्षुद्र इच्छाओं का तांडव चलता ही रहेगा।

गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की पुष्टि के लिए है। दूसरे शब्दों में यों कहा जाता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास—यह तीनों ही आश्रम गृहस्थाश्रम को व्यवस्थित और सुख-शांतिमय बनाने के लिए हैं। ब्रह्मचारी इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन करता है कि उसका भावी गृहस्थ शांतिपूर्ण और समृद्ध हो। वानप्रस्थ और संन्यासी लोग लोकहित की साधना करते हैं। इस लोक और संसार का सुख प्रकट करने वाला गृहस्थ धर्म ही है। यदि गृहस्थाश्रम की व्यवस्था बिगड़ जाए तो अन्य तीनों आश्रम ठीक रीति से नहीं चल सकेंगे।

गृहस्थाश्रम से 'अहं' का विस्तार होता है। आत्मभाव की सीमा बढ़कर उसमें परिवार के अन्य सदस्य भी आते हैं। छोटे-छोटे शिशुओं की सेवा सुश्रुषा में निःस्वार्थ भाव से संलग्न होना पड़ता है।

स्त्री, पुरुष, सगे-संबंधी, परिवार, पड़ौसी घर के पशु-पक्षी आदि में आत्मीयता बढ़ जाती है। क्रमशः उन्नति की ओर हम चलते हैं। अंत में मनुष्य पूर्णतया आत्म-संयमी हो जाता है। दूसरों

के लिए अपने को भूल जाता है। खुदी मिटती जाती है और खुदा मिल जाता है। गृहस्थ-योग की साधना जब अपनी विकसित अवस्था पर पहुँचती है तो आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाती है।

गृहस्थ हमें तुच्छता और संकीर्णता से महानता और उदारता की ओर ले जाता है, स्वार्थ का परिशोधन कर परमार्थी बना देता है। यदि हम गृहस्थ-धर्म के उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते रहें स्वार्थ हटाकर परमार्थ की साधना-करते रहें, तो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मीयता की उन्नति का अभ्यास करने के लिए सबसे उत्तम स्थान घर है। आत्मीयता साधन में अपना दृष्टिकोण देने और सेवा करने का बनाना पड़ता है। प्रेम की उदार भावनाओं से अपने अंत:करण को परिपूर्ण कर सगे-संबंधियों के लिए त्याग करना पड़ता है। इस आत्मीयता के प्रसार से घर स्वर्ग बन जाता है।

गृहस्थ का सोपान पार करने के पश्चात जीवन यात्रा का एक नया चरण प्रारंभ होता है। मुनुष्य को प्रतीत होने लगता है कि सांसारिक सुखों के आगे भी कोई चीज है। काम, क्रोध, लोभ, मोह से भरे हुए जीवन से उसे परितोष नहीं हो पाता। वह धीरे-धीरे आत्मा के सुखमय प्रदेश में प्रवेश करता है, आत्मा का प्रदेश वह मंगलमय संसार है जहाँ इंद्रियों की लोलुपता, आकर्षण और प्रलोभन नहीं हैं।

भारतवर्ष में विवाह-बंधन अत्यंत पवित्र धार्मिक कृत्य माना गया है। इनमें अनेक उद्देश्यों की प्रतीति और महान उत्तरदायित्वों की पूर्ति के साधन समाविष्ट हैं। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसमें मानव प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्तियों को संयमित करने, उसके द्वारा आयोजित प्रचलन तथा सृष्टि विस्तार, सामाजिक सुव्यवस्था, सुदृढ़ नागरिक निर्माण और अंत में निवृत्ति की चरम सीमा पर पहुँचाने की व्यवस्था की है।

धर्मशास्त्र का प्रवचन है—

तथा तथैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते।
अभिन्नेव प्रयुज्जानो ह्यस्मिन्नेव प्रलायते॥

इस संसार के साथ हमारा संयोग है, इसी संसार में हमारा लय हो जाएगा, तब हमें जिस समय जो कर्त्तव्य हो, वही करना अनिवार्य है। व्यक्तिगत सुविधा तथा असुविधा को लेकर कर्त्तव्य के पुण्य पथ से भ्रष्ट होना उचित नहीं। इसलिए धर्म ने गृहस्थाश्रम को तपोभूमि कहकर उसकी महत्ता स्वीकार की है। यहाँ तक कि धर्म की दृष्टि में गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों का मुख्य केंद्र है। इस संबंध में योगीवर वशिष्ठ का निर्देश देखिये—

गृहस्थ एव यजते गृहस्थरतुप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणांतु गृहस्थस्तु विशिष्यते॥

अर्थात—गृहस्थी ही वास्तविक रूप से यज्ञ करते हैं। गृहस्थी ही वास्तविक तपस्वी हैं—इसलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सबका सिरमौर है।

भारतीय धर्म के अनुसार गृहस्थाश्रम प्रकृति तपोभूमि है। इस काल में दो पवित्र आत्माओं का परस्पर सामंजस्य होता है तथा वे जीवन के युद्ध में प्रविष्ट होते हैं, उन्हें पग-पग पर उत्तरदायित्व, कठिनाइयों, सांसारिक संघर्ष प्रतियोगिताओं में भाग लेना होता है। दोनों आत्माएँ परस्पर सम्मिलित होकर एक-दूसरे की सहायता करते हुए तपस्या और साधना के मार्ग पर अग्रसर होती हैं।

प्रकृति ने प्रजनन क्रिया की सिद्धि के निमित्त जिस उद्दाम वासना को मानव-हृदय में प्रतिष्ठित किया है, उसकी उच्छृंखलता यौवन में फिर इतनी तीव्र हो उठती है कि सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उनका संयम आवश्यक है। भारतीय धर्म ने उस उद्दात प्रवृत्ति को स्वीकार किया है तथा विश्व की संस्थिति और संपूर्णता के लिए, मनुष्य के विकास के लिए उसे जरूरी माना है। अतएव प्रत्येक नागरिक को इस महायज्ञ में प्रवृत्त होने का आदर्श प्रदान किया है।

गृहस्थाश्रम विषय-भोग की सामग्री नहीं है, विलास मंदिर नहीं, वरन दो आत्माओं के पारस्परिक सहवास द्वारा शुद्ध आत्म-सुख, प्रेम और पुण्य का पवित्र प्रसाद है, वात्सल्य और त्याग की लीलाभूमि है, निर्वाण प्राप्ति के लिए शांति-कुटीर है। विवाह से मनुष्य समाज का एक अंग बनता है, अपूर्णता से पूर्णता प्राप्त करता

है, निर्बलता से सबलता की ओर अग्रसर होता है। नये उत्तरदायित्व और नये आनंद प्राप्त होते हैं। भारतीय ऋषियों ने गृहस्थाश्रम को अनेक व्रत, नियम, अनुष्ठान, आतिथ्य-सत्कार इत्यादि पुण्य-कर्त्तव्यों की लीलाभूमि बनाकर उसकी महिमा को द्विगुणित किया है। उन्होंने पारिवारिक व्यवस्था में प्रेम और वात्सल्य तथा दूसरी ओर अपने से छोटों के लिए उन्हीं के हित में त्याग तथा तपस्या के द्वारा इसे तपोभूमि के समान पवित्र बना दिया है।

एक लेखक का यह विचार है—"इस तपोभूमि के पुण्य स्वरूप और पुण्य साधना का मधुर रहस्य जानने के लिए हम हिमालय की उस तुषारमंडित शिला पर चलें, जहाँ हिमालय की किशोरी पार्वती तपश्चर्या में निमग्न है, वही भारतीय गृहस्थाश्रम के मंगलमय स्वरूप का प्रथम दर्शन है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व रमणी को तपोभूमि साधना में प्रवृत्त होना पड़ता है, क्योंकि जिस मंगलमय उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने पवित्र सुंदर जीवन का उत्सर्ग करती है, उसके लिए तपस्या और त्याग की परम आवश्यकता है। कुमार की उत्पत्ति तपस्या की सिद्धि का मधुर फल है, क्योंकि विश्व के परित्राण के लिए, देश के मंगल के लिए, समाज के अभ्युदय के लिए और मनुष्यता की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही कुमार के अवतार की आवश्यकता है। पुत्र या कन्या का जन्म भी धार्मिक महत्त्व रखता है। उसमें रमणी की उत्कृष्ट सिद्धि भी सम्मिलित है।"

भारतीय वैवाहिक जीवन मंगलमय है। उसका प्रत्येक व्रत, नियम, अनुष्ठान, पूजन, चिंतन इत्यादि विशेष महत्त्व रखता है। सर्वस्व तथा एक-पत्नीव्रत की पवित्रता से समुज्ज्वल, मातृत्व के मृदुल वात्सल्य से विभूषित, उत्तरदायित्वों के मनोरम भार से परिपूर्ण, प्रेम के विवाह से पूर्ण भारतीय विवाहित जीवन त्याग का तेजोमय तीर्थ और पुण्य एवं कर्म की भूमि है। इसी के द्वारा स्त्रियों में स्त्रीत्व तथा पुरुषों में पुरुषत्व का विकास होता है। नर-नारी के मंगलमय चिर सम्मिलन के समय भारतीय समाज उन दोनों को प्रणय-सूत्र में आबद्ध करने के साथ ही साथ इस जन्म मृत्यु के पश्चात परलोक

में भी परस्पर सहायता, सहानुभूति एवं स्नेहमय व्यापार के प्रतिज्ञा सूत्र में आबद्ध करता है।

हमारा हिंदू धर्म जिस मंगलमयी साधना को लेकर सदा व्यस्त रहता है, वह है, प्रवृत्ति को निवृत्ति के पथ पर परिचालित करना।' हमारे यहाँ वासना को प्रवृत्ति माना है, किंतु साथ ही साथ इस प्रवृत्ति के परिष्कार, उन्नतिकरण और अंततः निवृत्ति में परिणत करना, यह फल पाना है। वैवाहिक जीवन हमारे जीवन का एक स्टेज है जो भावी जीवन के निर्माण में सहायक है। हम सदा से यह मानते आए हैं कि असंस्कृत और उच्छृंखल प्रवृत्ति, साधना और तपस्या के द्वारा परम शांत और त्यागमयी बनाई जा सकती है। विनाश की अपेक्षा वृत्तियों का सही मार्ग में बहाव स्वार्थ और लालसा से निकलकर प्रेम और त्याग के मार्गों में उनका प्रवाह हमारे लिए विशेष महत्त्व रखता है।

आदि कवि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक ने अपने साहित्य में गृहस्थाश्रम का मनमोहक रूप प्रतिष्ठित किया है। कौन ऐसा प्रांत है, जिसमें मातृत्व की मंगलमय मूर्ति, सतीत्व, त्याग, सौंदर्य और वात्सल्य की मंदाकिनी प्रवाहित न हुई हो?

गृहस्थ में प्रविष्ट न होने वाला व्यक्ति एक प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार बनता है। आयु कम रहती है, मानसिक भावनाएँ विकसित नहीं हो पातीं, संसार के महत्त्वपूर्ण कार्यों में जी नहीं लगता, मन पुनः पुनः सुंदर स्त्रियों के मानचित्र बनाता और स्वप्नदोष उत्पन्न करता है। अविवाहित पुरुष की उत्पादक शक्ति क्षीण होती है। विवाह से उसे नया चाव, उत्साह, स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी प्रकार अविवाहित स्त्री कुढ़न, अनिद्रा, प्रमाद, चिंता, हिस्टीरिया, प्रजनन की गुप्त भावना, अतृप्ति, स्वार्थी और क्रोधी हो जाती है। विवाहित स्त्री का सौंदर्य बढ़ता है। शरीर के सब अंगों का नवीन ढंग से विकास होता है। मृदुल भावनाओं–दया, प्रेम, सहानुभूति वात्सल्य और कल्याण की अभिवृद्धि होती है।

डॉक्टर जेम्स स्टाक, रजिस्ट्रार जनरल ऑफ स्काटलैंड ने अपनी परिगणना द्वारा सिद्ध किया है कि कुँवारेपन से मनुष्य की

आयु क्षीण होती है। विवाहित व्यक्तियों में ४० और २० वर्ष के मध्य लगभग १४०७ व्यक्ति प्रति वर्ष मरते हैं। किंतु इसी अवस्था में कुँआरे एक लाख में से १८३५ के लगभग प्रतिवर्ष मरते हैं। १५ से ४० के मध्य में मरने वाले कुँआरों की मृत्यु का अनुपात विवाहितों से दुगुना है। बीमा कंपनियाँ अविवाहितों की अपेक्षा विवाहितों को पंसद करती है।

विवाह से पूर्णता की प्राप्ति—पृथक-पृथक स्त्री और पुरुष अपूर्ण हैं। उनके गुण तथा स्वभाव भी अपने अंदर एक प्रकार की कमी, कहीं और किसी अदृश्य वस्तु की कामना करते हैं। जो गुण एक में नहीं हैं, दूसरे में उनकी मौजूदगी आकर्षण का विषय बनती है। स्त्री-पुरुष दोनों के स्वभावों का विश्लेषण देखिए—

स्त्री में लज्जाशीलता, चारूता, सहजज्ञान, पातिव्रत्य, कोमलता, सूक्ष्मता, भावुकता होती है। वे मानसिक संवेगों को तीव्रता से अनुभव करती हैं। वे स्नेह सरोवर की मीन हैं। उन्हें रूप लावण्य की अनुपम राशि प्रदान की गई है। शांतिमयता, सहनशीलता और धैर्य भी बहुत होता है। वे बातें बहुत कम करती हैं, पर सुनती बहुत हैं।

पुरुष पाशविक वृत्तियों, शक्ति, क्रोध, कार्य-दक्षता तथा 'अहं' वादी है। क्रियाशीलता और प्रभुता दर्शन उसके प्रमुख गुण हैं। पुरुष का मस्तिष्क पाशविक वृत्तियों के क्षेत्र में अत्यधिक बलवान है। प्रेम, क्रोध, प्रतिशोध के समय वह कुछ काल के निमित्त उद्भ्रांत-सा हो जाता है। प्रेम में शीघ्रता करता है। यह स्वभावतः मजबूत, निर्णायक, प्रामाणिक, स्वाभिमानी, प्रचंड, उग्र, दाता, उदार, कठिन परिश्रमी, बेलगाम, विग्रही और युद्ध करने वाला है। उसका मन, अस्थिर, चंचल, बेकाबू और एक विस्फोटक के समान है।

दोनों में स्वतंत्र यौन प्रभेद मिलते हैं। नर प्रेम करने में उन्मत्त, शीघ्र आवेगपूर्ण काम-स्थिति में प्रचंड है। वह प्रेम से पूर्व स्त्री को हर प्रकार से अनुगत करने में सचेष्ट रहता है, तत्पश्चात प्रेमाराधना में लापरवाह से हो जाते हैं। पुरुष के प्रेम में प्रचंडता है, किंतु वह शीघ्र ही ठंडा हो जाने वाला ज्वालामुखी है। पुरुष के लिए प्रेम एक

प्रकार का खेल है। इसके विपरीत स्त्री का संपूर्ण ही प्रेम से निर्मित हुआ है, वह प्रेम से ही जीती है और उसी से अपना भविष्य बनाती है। उसके आंतरिक भावों का विकास प्रेम से ही होता है। एक कवि ने सत्य ही कहा है—"प्रेम स्त्री का संपूर्ण अस्तित्व है।"

स्त्री का प्रेम शांत पर सतत प्रवाहित होने वाली सरिता की तरह गंभीर है। वह इंद्रियों से प्रारंभ होकर आत्मज्ञान की ओर अभिवृद्धि को प्राप्त होने वाला है। स्त्री एक बार प्रेम-दान देकर पुरुष को अपना सर्वस्व दान देती है। उसमें भक्ति भाव, पातिव्रत्य और आत्मिक-ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक है। हेवलाक ऐलिस ने सत्य ही निर्देश किया है—'पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मनःक्षेत्र अधिक स्थूल और प्रसारित है, परंतु उनमें वह उतने प्रधान भाव से व्यक्त नहीं होता। पुरुषों की कामवासना की स्वाभाविक प्रवृत्ति शक्ति का एक अशांत स्रोत है। वह उछल-उछल कर सब प्रकार की नालियाँ में बह जाता है।'

स्त्री प्रेम से शासन करना चाहती है। उसका प्रेम विकेंद्रित होता है, जिसमें उसके बच्चे, पति, भाई-बहिन इत्यादि सम्मिलित हैं। मातृत्व का भार उठाने पर उसका वात्सल्य विकसित होता है, करुणा, सहानुभूति, दया, प्रेम की नाना धाराओं में बहने लगता है। वह अपने बच्चे पर तो प्रेम न्यौछावर करती ही है, सभी बच्चों, पशु-पक्षियों तक को भावुक दृष्टि से निहारती है। स्त्री की भावनाएँ तीव्र होती हैं। संवेग तथा भावों का उसके-हृदय में राज्य है। सोच में डूबे रहना, प्रतीक्षा करना और सहज ज्ञान-ये स्त्री के सनातन गुण हैं। वे अपने सहज ज्ञान से पुरुष की साधारण और मुख्य आवश्यकताओं को पहले से ही भाँप लेती हैं और उसका प्रबंध करती हैं। दूसरों के मनोभावों को भाँपने तथा भविष्य में आने वाली विपत्तियों का अनुमान लगाने के लिए उन्हें विशेष गुप्त मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

डॉ० बरनार्ड कालेडर के अनुसार अधिकांश स्त्रियाँ एक तीखी और गहरी दृष्टि से जान लेती हैं कि व्यक्ति कैसा है? धोखेबाज, बदमाश या सज्जन, नैतिक, बुद्धिमान। मूर्ख स्त्रियाँ दुराचारियों के

वश में आ सकती हैं, किंतु बुद्धिमती स्त्री बड़ी चतुर होती है। वह उसके चेहरे से अंदर के मनोभाव पढ़ सकती है। यदि आप अपना दु:ख दर्द स्त्रियों के सामने वर्णन करें तो वे सहानुभूति प्रदर्शित करेंगी। वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक भावुक हैं, अधिक प्रकार के मानसिक भावों का प्रकाश अनुभव करती हैं। धार्मिक विचार में वे पुराने संस्कारों से चिपकी रह जाने वाली हैं। स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक व्यवहार कुशल है, अपने व्यवहार में अधिक उदार होती है। पुरुष के प्रेम पर सदा विचार किया करती हैं और उसके प्रशंसायुक्त प्रेम भरे वाक्य सुनने के लिए सदैव लालायित रहा करती हैं। संक्षेप में, पुरुष की अपेक्षा वह अधिक सहनशील, शांत, प्रतिभा संपन्न, उदार एवं ज्ञानयुक्त होती हैं।

विवाह में स्त्री पुरुष के उल्टे गुण एक-दूसरे से मिलकर पूर्णता की सृष्टि करते हैं। दोनों का संयोग समाज का एक 'यूनिट' बनाता है। यही यूनिट सम्मिलित रूप में समाज को आगे बढ़ाता है। न तो पुरुष स्त्री के बराबर है, न स्त्री पुरुषों का अनुकरण कर अपने अंदर उन्हें उत्पन्न कर सकती है। सृष्टिकर्ता की रचना ऐसी है कि दो विभिन्न गुण वाले प्राणी भाईचारे और पारस्परिक साझेदारी से एक दूसरे के स्वभाव और प्रकृति को समझकर सम्मिलित रूप से आगे बढ़ते हैं। स्त्री तथा पुरुष के गुण-दोष एवं प्रकृति एक स्थान पर मिलने से 'मनुष्य' बनता है। यदि ये दोनों लिंगों के प्राणी एक दूसरे से पृथक रहेंगे या लैंगिक प्रतियोगिताओं में उलझे रहेंगे तो गृहस्थितियों में पारस्परिक कलह की वृद्धि रहेगी, समाज की समस्वरता नष्ट हो जाएगी।

श्री संतरामजी ने लिखा है—"गृहस्थी एक साझे की दुकान है। इस दुकान के प्रधान साझेदार दो हैं—स्त्री और पुरुष। यह दुकान तभी फलती-फूलती और लाभप्रद होती है जब ये दोनों साझेदार एक-दूसरे के स्वभाव, प्रकृति, गुण, दोष, आवश्यकता और विशेषता को समझते हों। एक-दूसरे का संपर्क ज्ञात न होने से उनका साझा भली-भाँति नहीं चल सकता। विज्ञान ने स्त्री और पुरुष की तुल्यता की घोषणा की है, न कि उनकी समानता की।

बात केवल इतनी ही है कि स्त्री और पुरुष दोनों के संयोग से मनुष्य बनता है, ठीक उसी प्रकार जैसे धनात्मक और ऋणात्मक अणुओं के मिलने से विश्व बना है।''

विवाह के पश्चात पुरुष को स्त्री सुख के लिए तथा स्त्री को पति के आनंद के निमित्त कुछ बलिदान करना पड़ता है। दोनों ही एक-दूसरे को सुखी देखना चाहते हैं। अपने जीवन मित्र के लिए अधिक से अधिक त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं। अतः स्वार्थ और संकुचितता नष्ट होकर उदारता और त्याग की भावनाएँ जाग्रत होती हैं। जीवन का क्रम है, 'सुख की ओर अग्रसर होना' इस त्याग का यह फल होता है कि दोनों ही सुखी रहते हैं। एक-दूसरे के लिए खोजने की प्रवृत्ति तथा उपकरण प्रस्तुत करने से अपने लिए सुख पाने का राज-पथ तैयार किया जाता है। इस प्रवृत्ति का जनक है कर्त्तव्यनिष्ठ गृहस्थ जीवन। गृहस्थ जीवन एक ऐसी पाठशाला है, जिसमें स्त्री-पुरुष के स्वभाव एक होकर एक-दूसरे की कमी की पूर्ति करते हुए अधिक से अधिक समृद्धि और समाज हित के लिए अग्रसर होते हैं।

विवाहित स्त्री-पुरुष त्याग और आत्मसमर्पण की प्रतिमूति हैं। पुरुष सिंह के समान बलशाली, क्रोधी और तीव्र मनोविकारों का लड़ाकू जीव है। लेकिन अपनी पत्नी के समक्ष वह दयालु हो उठता है। जिस नारी को वह एक पराये घर से लाता है, अपने गृह की संपूर्ण व्यवस्था, गुप्त बातें उसे सौंपकर ठंडी साँस लेता है। सब रुपया कमाकर उसी लक्ष्मी को अर्पण करता है, वह स्वयं अपने आप कुछ नहीं खाना चाहता। भूखा रहकर पत्नी के लिए अच्छी से अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार पत्नी स्वयं दुःख उठाकर घर के कार्यों में लगकर पति को सुखी देखना चाहती है। वह अपना सुख, खान-पान, पहनावा इत्यादि पति के सुख पर उत्सर्ग कर देती है। यह पारस्परिक आत्मसमर्पण ही गृहस्थ जीवन का निर्माण करता है।

'योग' का अर्थ है—'जोड़ना-मिलना'। मनुष्य की साधारण स्थिति ऐसी होती है जिसमें वह अपूर्ण होता है। इस अपूर्णता को

मिटाने के लिए वह किसी दूसरी शक्ति के साथ अपने आपको जोड़कर अधिक शक्ति का संचय करता है, अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है और उस सामर्थ्य के बल से अपूर्णता को दूर कर पूर्णता की ओर तीव्र गति से बढ़ता जाता है, यही योग का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हठयोग, राजयोग, जपयोग, लययोग, तंत्रयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, स्वरयोग, ऋजयोग, महायोग, कुंडलिनी योग, बुद्धियोग, समत्वयोग, प्राणयोग, ध्यानयोग, साँख्ययोग, जड़योग, सूर्ययोग, चंद्रयोग, सहजयोग, प्रणवयोग, नित्ययोग आदि ८४ प्रसिद्ध योग और ७०० अप्रसिद्ध योग हैं। इन विभिन्न योगों की कार्यप्रणाली, विधि व्यवस्था और साधना पद्धति एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है तो भी इन सबकी जड़ में एक ही तथ्य काम कर रहा है। माध्यम सबके अलग-अलग हैं पर उन सभी माध्यमों द्वारा एक ही तत्त्व ग्रहण किया जाता है—तुच्छता से महानता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर, असत् से सत् की ओर और तम से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर जो प्रगति होती है उसी का नाम योग है। अणु आत्मा को परम आत्मा बनाने का प्रयत्न ही योग है। यह प्रयत्न जिन-जिन मार्गों से होता है उन्हें योग मार्ग कहते हैं।

एक स्थान तक पहुँचने के लिए विभिन्न दिशाओं से विभिन्न मार्ग होते हैं, आत्मविस्तार के भी अनेक मार्ग हैं। इन मार्गों में स्थूल दृष्टि से भिन्नता होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से पूर्ण रूपेण एकता है। जैसे भूख बुझाने के लिए कोई रोटी, कोई चावल, कोई दलिया, कोई मिठाई, कोई फल, कोई माँस खाता है। यह सब चीजें एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक प्रकार की हैं तो भी इन सबसे 'भूख मिटाना' यह एक ही उद्देश्य पूर्ण होता है। इसी प्रकार योग के नाना रूपों का एक ही प्रयोजन है—आत्मभाव को विस्तृत करना, तुच्छता को महानता की पूँछ के साथ बाँध देना।

अनेक प्रकार के योगों में एक 'गृहस्थ योग' भी है। गंभीरतापूर्वक इसके ऊपर जितना ही विचार किया जाता है, यह उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण, सर्वसुलभ तथा स्वल्प श्रमसाध्य है। इतना होते हुए भी इससे प्राप्त होने वाली जो सिद्धि है, वह अन्य

किसी भी योग से कम नहीं वरन अधिक ही है। गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की पुष्टि और वृद्धि करने वाला है, दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास यह तीनों ही आश्रम गृहस्थाश्रम को व्यवस्थित और सुख-शांतिमय बनाने के लिए हैं। ब्रह्मचारी इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन करता है कि उसका भावी गृहस्थ जीवन शक्तिपूर्ण और समृद्ध हो। वानप्रस्थ और संन्यासी लोग, लोकहित की साधना करते हैं, संसार को अधिक सुख-शांतिमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह 'लोक' और 'संसार' क्या है? दूसरे शब्दों में गृहस्थाश्रम ही है। तीनों आश्रम एक ओर—और गृहस्थाश्रम दूसरी ओर। यह दोनों पलड़े बराबर हैं। यदि गृहस्थाश्रम की व्यवस्था बिगड़ जाए तो अन्य तीनों आश्रमों की मृत्यु ही समझिए।

गृहस्थ धर्म का पालन करना धर्मशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। लिखा है कि—संतान के बिना पितर नरक को जाते हैं, उनकी सद्गति नहीं होती। लिखा है कि—संतान उत्पन्न किये बिना पितृ-ऋण से छुटकारा नहीं मिलता। कहते हैं कि—जिसके संतति न हो उनका प्रातःकाल मुख देखने से पाप लगता है। इस प्रकार के और भी अनेक मंतव्य हिंदू धर्म में प्रचलित हैं जिनका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ धर्म का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ मार्ग पर इतना जोर क्यों दिया गया है? इस बात पर जब तात्विक दृष्टि से गंभीर विवेचना की जाती है, तब प्रकट होता है कि गृहस्थ धर्म एक प्रकार की योग साधना है जिससे आत्मिक उन्नति होती है, स्वर्ग मिलता है, मुक्ति प्राप्त होती है और ब्रह्म निर्वाण की सिद्धि मिलती है। प्राचीन समय में अधिकांश ऋषि गृहस्थ थे। वशिष्ठ जी के सौ पुत्र थे, आत्रिजी की स्त्री अनुसूया थीं, गौतम की पत्नी अहिल्या थी, जमदग्नि के पुत्र परशुराम थे, च्यवन की स्त्री सुकन्या थी, याज्ञवल्क्य की दो स्त्री गार्गी और मैत्रेयी थीं, लोमश के पुत्र शृंगी ऋषि थे। वृद्धावस्था में संन्यास लिया हो यह बात दूसरी है परंतु प्राचीनकाल में जितने भी ऋषि हुए हैं वे प्रायः सभी गृहस्थ रहे हैं। गृहस्थ में भी उन्होंने तप किये हैं और ब्रह्म

निर्वाण पाया है। योगिराज कृष्ण और योगेश्वर शंकर दोनों को ही हम गृहस्थ रूप में देखते हैं। प्राचीनकाल में बाल रखने, नंगे बदन रहने, खड़ाऊँ पहनने, मृगछाला बिछाने का आम रिवाज था। घनी आबादी होने के कारण छोटे गाँव और छोटी कुटिया होती थी। इन चिह्नों के आधार पर गृहस्थ ऋषियों को गृहत्यागी मानना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है।

आत्मोन्नति करने के लिए गृहस्थ धर्म एक प्राकृतिक, स्वाभाविक आवश्यक और सर्वसुलभ योग है। जब तक लड़का अकेला रहता है तब तक उसकी आत्मभावना का दायरा छोटा रहता है। वह अपने ही खाने, पहिनने, पढ़ने, खेलने तथा प्रसन्न रहने की सोचता है। उसका कार्य क्षेत्र अपने आप तक ही सीमित रहता है। जब विवाह हो जाता है तो यह दायरा बढ़ता है, वह अपनी पत्नी की सुख-सुविधाओं के बारे में सोचने लगता है। अपने सुख और मरजी पर प्रतिबंध लगाकर पत्नी की आवश्यकताएँ पूरा करता है, उसकी सेवा सहायता और प्रसन्नता में अपनी शक्तियों को खरच करता है। कहने का तात्पर्य यह कि आत्मभाव की सीमा बढ़ती है, एक से बढ़कर दो तक आत्मीयता फैलती है। इसके बाद एक छोटे शिशु का जन्म होता है। इस बालक की सेवा-शुश्रुषा और पालन-पोषण में निःस्वार्थ भाव में इतना मनोयोग लगाता है कि अपनी निज सुख-सुविधाओं का ध्यान मनुष्य भूल जाता है और बच्चे की सुविधा का ध्यान रखता है। इस प्रकार यह सीमा दो से बढ़कर तीन होती है। क्रमशः यह मर्यादा बढ़ती है। पिता कोई मधुर मिष्ठान्न लाता है तो उसे खुद नहीं खाता वरन बच्चों को बाँट देता है, खुद कठिनाई में रहकर भी बालकों की तंदुरुस्ती, शिक्षा और प्रसन्नता का ध्यान रखता है। दिन-दिन खुदगरजी के ऊपर अंकुश लगता जाता है—आत्मसंयम सीखता जाता है और स्त्री, पुत्र, संबंधी परिजन आदि में अपनी आत्मीयता बढ़ाता जाता है। क्रमशः आत्मोन्नति की ओर चलता जाता है।

भगवान मनु का कथन है—"पुरुष उसकी पत्नी और संतान मिलाकर ही एक पूरा मनुष्य होता है। जब तक यह सब नहीं होता

तब तक वह अधकचरा, अधूरा और खंडित मनुष्य है। जैसे प्रवेशिका परीक्षा पास किये बिना, कॉलेज में प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार गृहस्थ की शिक्षा पाये बिना वानप्रस्थ, संन्यास आदि में प्रवेश करना कठिन है। आत्मीयता का दायरा क्रमशः ही बढ़ता है। अकेले से, पत्नी-पति दो में, फिर बालक के साथ तीन में, संबंधियों में, पड़ोसियों में, गाँव, प्रांत, प्रदेश, राष्ट्र, विश्व में यह आत्मीयता क्रमशः बढ़ती है। आगे चलकर सारी मनुष्य जाति में आत्मभाव फैलता है फिर पशु-पक्षियों में, कीट-पतंगों में, जड़-चैतन्य में यह आत्मभाव विकसित हो जाता है। जो प्रगति एक से एक बढ़कर दो में से तीन में हुई थी, वही उन्नति धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है और मनुष्य संपूर्ण चर-अचर में आत्मसत्ता को ही समाया देखता है, उसे परमात्मा की दिव्य ज्योति सर्वत्र जगमगाती दीखती है। पत्नी तक अपने मन को जितने अंशों में फैलाया जाता है उतने अंशों में अपनी खुदगरजी पर संयम होता है। बाल-बच्चों के होने पर यह आत्मसंयम और अधिक बढ़ता है, अंत में जीव पूर्णतया आत्मसंयमी हो जाता है। दूसरे के लिए अपने आप को भूलने का अभ्यास क्रमशः इतना अधिक पुष्ट हो जाता है कि अपना कुछ रहता ही नहीं, सब कुछ बिराना हो जाता है। मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर की ध्वनि उसके अंदर से निकलने लगती है। खुदी मिटती जाती है और खुदा मिलता जाता है। 'मै' का अंत होनेसे 'तू' ही शेष रहता है। गृहस्थ योग की छोटी-सी सर्वसुलभ साधना जब अपनी विकसित अवस्था तक पहुँचती है तो आत्मा, परमात्मा बन जाता है। अपूर्णता से छुटकारा और पूर्णता उपलब्ध करता है और योग का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो जाता है।

गृहस्थ योग से परम पद की प्राप्ति

पुण्य और पाप किसी कार्य के बाह्य रूप के ऊपर नहीं वरन उस काम को करने वाले की भावना के ऊपर निर्भर है। किसी कार्य का बाहरी रूप कितना ही अच्छा, ऊँचा या उत्तम क्यों न हो परंतु यदि करने वाले की भीतरी भावनाएँ बुरी हैं तो ईश्वर के

दरबार में वह कार्य पाप में शुमार होगा। लोगों को धोखा दिया जा सकता है, दुनियाँ को भ्रम या भुलावे में डाला जा सकता है, परंतु परमात्मा को धोखा देना असंभव है। ईश्वर के दरबार में काम के बाहरी रूप को देखकर नहीं वरन करने वाले की भावनाओं को परखकर धर्म-अधर्म की नाप-तौल की जाती है।

आज हम ऐसे अनेक धूर्तों को अपने आस-पास देखते हैं जो कहने को तो बड़े-बड़े अच्छे काम करते हैं, पर उनका भीतरी उद्देश्य बड़ा दूषित होता है। अनाथालय, विधवाश्रम, गौशाला आदि पवित्र संस्थाओं की आड़ में भी बहुत-से बदमाश आदमी अपना उल्लू सीधा करते हैं। योगी, महात्मा, साधु, संन्यासियों का बाना पहने अनेक चोर, डाकू, लुच्चे, लफँगे घूमते रहते हैं। यज्ञ करने के नाम पर, पैसा बटोरकर कई आदमी अपना घर भर लेते हैं। बाहरी दृष्टि से देखने पर अनाथालय, विधवाश्रम, गौशाला चलाना, साधु, संन्यासी, महात्मा, उपदेशक बनना, यज्ञ, कुआँ, मंदिर बनवाना आदि अच्छे कार्य हैं, इनके करने वालों को पुण्यफल मिलना चाहिए, परंतु वास्तविक बात यह है कि यदि करने वाले की भावनाएँ विकृत हैं तो यह अच्छे काम भी उसकी मुख्य संपदा में कुछ वृद्धि न कर सकेंगे। वह व्यक्ति अपने पापमय विचारों के कारण पापी ही बनेगा, पाप का नरकमय दंड ही उसे प्राप्त होगा।

यदि कोई आदमी साधारण काम करता है। मामूली व्यक्तियों की तरह जीवनयापन करता है, किंतु उन साधारण कार्यों में भी उद्देश्य, मनोभाव और विचार ऊँचे रखता है तो वह साधारण काम भी तपस्या जैसा पुण्य फलदायक हो जाता है। यहीं तक नहीं—बल्कि यहाँ तक भी होता है कि बाहर से दीखने वाले अधर्म युक्त कार्य भी यदि सद्भावना से किये जाते हैं तो वे भी धर्म बन जाते हैं। जैसे हिंसा करना, किसी के प्राण लेना, हत्या या रक्तपात करना प्रत्यक्ष पाप है। परंतु आततायी, दुष्ट और दुरात्माओं से संसार की रक्षा करने की सद्भावना से यदि दुष्टों को मारा जाता है तो वह पाप नहीं वरन पुण्य बन जाता है। भगवान कृष्ण

ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करके हजारों मनुष्यों को मरवा डाला पर इससे अर्जुन या कृष्ण को कुछ पाप नहीं लगा। राम-रावण युद्ध में बड़ा भारी जन संहार हुआ परंतु उन दुष्टों को मारने वाले पापी या हत्यारे नहीं कहलाए। यहाँ हिंसा प्रत्यक्ष है तो भी हिंसा करने वाले सद्‌भावना युक्त थे इसलिए उनके कार्य पुण्यमय ही हुए। इसी प्रकार झूठ, चोरी, छल आदि भी समयानुसार—सद् उद्‌देश्य से किये जाने पर धर्ममय ही होते हैं। उन्हें करने वाले को पाप नहीं लगता वरन पुण्य फल ही प्राप्त होता है।

उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर पाठकों को किसी भ्रम में न पड़ना चाहिए। हम सत्कर्मों की निंदा या असत कार्यों की प्रशंसा नहीं कर रहे हैं। हमारा तात्पर्य तो केवल यह कहने का है कि काम का बाहरी रूप कैसा है, इससे दुनियाँ की स्थूल दृष्टि ही कुछ समय के लिए चकाचौंध में पड़ सकती है पर परमात्मा प्रसन्न नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्मा के समक्ष तो भावना प्रधान है। यदि किसी ने अपने किसी स्वार्थ साधन के लिए कोई प्रीतिभोज दिया हो या और कोई ऐसा काम किया हो तो जब लोगों को असली बात का पता चलता है तो लोग उसकी चालाकी के लिए मन ही मन मुस्कराते हैं, कनखियाँ लेते हैं और मसखरी उड़ाते हैं, धर्मात्मा की बजाय उसे चालाक ही समझा जाता है। अब दूसरी ओर चलिए किसी आदमी द्वारा भूल से, मजबूरी से या गैर जानकारी से कोई अनुचित बात हो जाती है और जानकारी होने पर पता चलता है तो उसे अनुचित बात के लिए भी क्षमा कर दिया जाता है। अदालतें भी अपराधी की नीयत पर मुख्यतया ध्यान रखती हैं। यदि अपराधी की नीयत बुरी न साबित हो तो अपराधी को कठोर दंड का भागी नहीं बनना पड़ता।

जीवन के हर एक काम की अच्छाई, बुराई कर्त्ता की भावना के अनुरूप होती है, जीवन भले ही सादा हो पर यदि विचार उच्च हैं तो जीवन भी उच्च माना ही जाएगा। रुपये-पैसे या काम

के बड़े आडंबर से पुण्यफल का विशेष संबंध नहीं है। एक अमीर आदमी रुपये के बल से बड़े-बड़े ब्रह्मभोज, पूजा, पाठ, तीर्थयात्रा, कथा-पुराण, मंदिर मठ, कुआँ-बाँवड़ी सदावर्त यज्ञ-हवन आदि की व्यवस्था आसानी से कर सकता है। दस लाख रुपया अनुचित रीति से कमाकर दस हजार रुपया इस प्रकार के कार्यों में लगाकर धर्मात्मा बनता है। दूसरी ओर गरीब आदमी जो ईमानदारी की मेहनत-मजदूरी करता है, वह थोड़े-से पैसे कमाता है, जिससे कुटुंब का भरण-पोषण कठिनाई से हो पाता है, बचता कुछ नहीं, ऐसी दशा में वह बेचारा भला ब्रह्मभोज, तीर्थ यात्रा, यज्ञ अनुष्ठान आदि की व्यवस्था किस प्रकार कर पाएगा? यदि वह नहीं कर पाता है तो क्या वह धर्महीन ही रह जाएगा? क्या दुनियाँ की भौतिक चीजों की भाँति ही पुण्यफल भी रुपयों से ही खरीदा जाता है?

इन प्रश्नों की मीमाँसा करते हुए पाठकों को यह बात भली प्रकार हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि पुण्य का पैसे से कोई संबंध नहीं है। पुण्य तो भावना से खरीदा जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में रुपये की तूती नहीं बोलती, वहाँ तो भावना की प्रधानता है। दंभ, अहंकार, नामवरी, वाहवाही, पूजा-प्रतिष्ठा के प्रदर्शन के लिए धर्म के नाम पर करोड़ रुपये खरच करने पर भी उतना पुण्यफल नहीं मिल सकता जितना कि श्रद्धा एवं सच्चे अंत:करण से रोटी का टुकड़ा देने पर प्राप्त होता है। स्मरण रखिये-सोने की सुनहरी चमक और चाँदी की मधुर चमचमाहट आत्मा को ऊँची उठाने में कुछ विशेष सहायक नहीं होती। आत्मिक क्षेत्र में गरीब और अमीर का दरजा बिलकुल बराबर है, वहाँ सबके पास समान वस्तु है—समान साधन हैं। भावना हर गरीब-अमीर को प्राप्त है, उसी की अच्छाई-बुराई के ऊपर पुण्य-पाप की सारी दारोमदार है। घटनाओं का घटाटोप, चौंधिया देने वाला प्रदर्शन, बड़े-बड़े कार्यों के विराट आयोजन रंगीन बादलों से बने हुए आकाश चित्रों की भाँति मनोरंजक तो हैं पर उनका अस्तित्व कुछ नहीं। सच्चे हृदय से किए हुए एक अत्यंत छोटे और तुच्छ दीखने वाले

कार्य का जितना महत्त्व है उतना दंभपूर्वक किए हुए बड़े भारी आयोजन का किसी प्रकार नहीं हो सकता। भावना की सच्चाई और सात्विकता के साथ आत्मत्याग और कर्त्तव्य पालन, यही धर्म का पैमाना है। इस भावना से प्रेरित होकर काम करना ही पुण्य है। सद्भावना जितनी ही प्रबल होगी आत्मत्याग उतना बड़ा होगा। पैसे वाला अपने पैसे को जी खोलकर सत्कार्य में लगावेगा, उसी प्रकार गरीब के पास जो साधन है उनको वह ईमानदारी के साथ खरच करेगा।

लोग ऐसा समझते हैं कि धर्म-भावना के लिए, पुण्यफल प्राप्त करने के लिए, आत्मोन्नति के लिए, ईश्वर प्राप्ति के लिए स्वर्ग या मुक्ति की उपलब्धि के लिए, किन्हीं विशिष्ट, विचित्र या असाधारण कार्यों का आयोजन करने की आवश्यकता होती है। अमुक प्रकार की वेश-भूषा, अमुक प्रकार का रहन-सहन, अमुक प्रकार का साधन भक्तिपथ हैं यह मानना बिलकुल गलत हैं। वेष-भूषा, रहन-सहन, साधक की सुविधा के लिए है, उसे जिससे आसानी रहे, इनके द्वारा सिद्ध किसी को नहीं मिलती। यदि वेष या रहन-सहन से ही सिद्धि मिलती होती तो आज जो साधु नामधारी लाखों कर्महीन भिखमंगे इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं-मुक्ति के अधिकारी हो गए होते। अनेक प्रकार की आत्मिक साधनाएँ, अनेक प्रकार के मानसिक व्यायाम हैं जिनके द्वारा मनोभूमि को, भावना क्षेत्र को निर्मल, पवित्र एवं सात्विक बनाया जाता है। आत्मोन्नति की असंख्यों साधनाएँ हैं, सभी लाभप्रद हैं, क्योंकि किसी भी रास्ते से सही भावना को उच्च बनाना है, यदि मनोभूमि उच्च न बने तो साधना निरर्थक है। अमुक पुस्तक का पाठ करने, मंत्र जपने या अभ्यास करने से यदि मनोभूमि निर्मल बनती हो तो आत्मोन्नति होगी पर रूढ़ि की तरह अंधविश्वासपूर्वक अविवेक के साथ किसी मंत्र या पुस्तक को रटते रहा जाए, अमुक प्रकार से काया कष्ट सहते रहा जाए तो उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जीवन लक्ष्य को प्राप्त करना आत्मिक पवित्रता द्वारा संभव है। उस पवित्रता के लिए अनेकों असंख्यों साधन हैं। जिनमें से देश, काल,

पात्र को देखते हुए बुद्धिमान व्यक्ति अपने लिए उपयुक्त वस्तु चुन लिया करते हैं। जैसे एक ही कसरत सबके लिए अनिवार्य नहीं है। उसी प्रकार एक ही साधन हर मुमुक्ष के लिए आवश्यक नहीं है। शरीर, ऋतु, खुराक, पेशा आदि को देखकर ही चतुर व्यायाम विशारद अपने शिष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम कराते हैं। उसी प्रकार आत्म-अनुयायियों के लिए चुनाव करते हैं।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर साधारण श्रेणी के सभी पाठकों के लिए गृहस्थ योग की साधना को बहुत ही उपयुक्त, उचित, सुलभ एवं सुख साध्य समझते हैं। गृहस्थ योग की साधना भी राजयोग, लययोग आदि की ही श्रेणी में आती हे। उचित रीति से इस महान व्रत का अनुष्ठान करने पर मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और घर के वातावरण में स्वर्ग का अवतरण कर स्वयं उल्लसित-आनंदित रह सकता है दूसरों को प्रसन्नता एवं हर्ष प्रदान कर सकता है।

❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।